HINDI VISHW BHARTI

हिन्दी
विश्व-भारती

ग्राहकों से निवेदन

'हिन्दी विश्व-भारती' का प्रकाशन सितंबर, १९३९, में आरंभ हुआ था। उस समय यह घोषणा की गई थी कि हर महीने नियम से एक अंक प्रकाशित किया जायगा। यद्यपि तब से अब तक सात अंक प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु हमें खेद है कि लगातार प्रयत्नशील रहकर भी हम योजना के अनुसार समय पर अंक नहीं निकाल सके। इसका मुख्य कारण काग़ज़ संबंधी कठिनाई है। 'हिन्दी विश्व-भारती' के लिए खास क़िस्म और साइज़ का काग़ज़ हालैंड और जर्मनी से बनवाया गया था, जिसका कुछ अंश तो हमें जुलाई, १९३९, में ही मिल गया था और शेष सितंबर-अक्तूबर में मिलनेवाला था। पर इसी बीच दुर्भाग्य से योरप में लड़ाई छिड़ जाने से हमारा बाक़ी काग़ज़ हिन्दुस्तान तक पहुँच ही न पाया और हमारे लिए एक कठिन समस्या पैदा हो गई। विवश होकर हमें हिन्दुस्तान ही में उसी साइज़ और मोटाई का काग़ज़ तैयार करने की व्यवस्था करना पड़ी। इसमें स्वभावतः कुछ देर लगी, साथ ही लड़ाई के कारण मिलों के लिए काम की भरमार हो जाने के फलस्वरूप यहाँ से भी हमें समय पर काग़ज़ नहीं मिल सका। इसी वजह से प्रथम दो अंकों के निकलने के बाद आगे के अंकों के प्रकाशन में प्रति मास लगातार कुछ-न-कुछ देरी होती गई, जिससे हम काफ़ी पिछड़ गए। समय का यह घाटा पूरा होने में निस्संदेह अभी कुछ देर लगेगी, क्योंकि छपाई आदि के सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए प्रति मास एक अंक से अधिक निकाल पाना अभी हमारे लिए संभव नहीं है। पर हम आपको यह विश्वास दिलाते हैं कि **आपसे प्राप्त १२) रुपया वार्षिक चंदे के बदले में हम आपको पूरे बारह अंक देंगे, और जिस समय बारह अंक पूरे होंगे उसी समय आपका वार्षिक चंदा समाप्त हुआ समझा जायगा।** हम कोशिश तो यही कर रहे हैं कि कम-से-कम समय में इस वर्ष के शेष पाँचों अंक निकल जायँ; इसके लिए हमने स्थाई रूप से काग़ज़ की व्यवस्था भी कर ली है। किन्तु जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं, प्रति मास एक अंक से अधिक न छाप सकने के कारण संभवतः समय के इस घाटे की पूर्त्ति करने में हमें कुछ अधिक दिन लग जायँ। हमें विश्वास है कि हमारी विवशता को देखते हुए उसी सहानुभूति के साथ, जो अब तक हमारे प्रति आपने प्रदर्शित की है, आप हमें इस विलंब के लिए क्षमा करेंगे।

एक बात और। पिछले दिनों में ग्राहक बननेवाले कई सज्जनों को हम 'विश्व-भारती' के आरंभ के दो अंक, जो स्टॉक में नहीं रह गए थे, नहीं दे पाये हैं। इनमें से पहला अंक फिर से छप चुका है, और जिन लोगों के पास नहीं है उन्हें शीघ्र ही भेज दिया जायगा। दूसरा अंक भी जल्दी ही फिर से छापने की व्यवस्था की जा रही है।

विनीत

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव
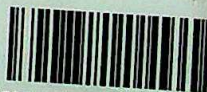
प्रधान संपादक

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, एम० ए० (लंदन)

शिक्षा-प्रसार अफ़सर, संयुक्त प्रांत

संयुक्त संपादक

श्री० कृष्णवल्लभ द्विवेदी, बी० ए०

विशेष संपादक और सहयोगी लेखक आदि

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी० (लंदन) रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन०), एफ़० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्ट्स् एण्ड क्राफ़्टस्, लखनऊ।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी० लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

श्री सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ; जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट; भूतपूर्व प्रिंसिपल लॉ कालेज, लाहौर।

डा० इबादुर रहमान खाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद; भूतपूर्व अध्यक्ष, भूगोल-विभाग, अलीगढ़-विश्वविद्यालय।

डा० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच० डी० (हाइडलबर्ग)।

श्री० भैरवनाथ झा, बी० एस-सी०, बी० एड० (एडिन०) इंस्पैक्टर ऑफ़ स्कूल्स, यू० पी०।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आई० सी०, प्रोफ़ेसर, आर्थिक भू-विज्ञान, तथा अध्यक्ष, ग्लास-टेकनालाजी डिपार्टमेंट, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय।

श्री० व्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, कि० र० इं० कालेज, मथुरा।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस० सी०।

श्री० सु० बालुपुरी।

आदि, आदि।

संयोजक और प्रकाशक

श्री० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

[illegible], लखनऊ।

इस अंक की विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

पं० भृगुराज भार्गव द्वारा अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स, चारबाग़, लखनऊ, में मुद्रित तथा एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड, चारबाग़, लखनऊ, के लिए प्रकाशित

विश्व की कहानी

यदि हम बुध पर पहुँच पाते तो हमें क्या दिखाई देता ?

सूर्य से अति निकट होने के कारण बुध पर भीषण तापक्रम रहता होगा। साथ ही, वहाँ वायुमण्डल का सर्वथा अभाव होगा। वहाँ हमें दिखाई देंगे करकराती धारवाले ऊँचे पहाड़ और दरारें तथा निरभ्र आकाश में प्रखर रूप से तपता हुआ विशाल आग के गोले जैसा सूर्य, जिसका कॉरोना भी स्पष्ट दिखाई पड़ता होगा। इस चित्र में, यही कल्पना की गई है।

बुध और शुक्र

सौर परिवार के दो लघु सदस्य, जो सूर्य से सबसे कम दूरी पर हैं।

बुध और शुक्र ये दोनों ग्रह केवल संध्यासमय या प्रातःकाल दिखलाई पड़ते हैं। बात यह है कि पृथ्वी इन ग्रहों की कक्षाओं के बाहर है। इसलिए न तो बुध और न शुक्र उस दिशा में जा सकता है जो सूर्य से उल्टी ओर पड़ती है। बुध तो विशेष रूप से सूर्य के पास ही रहता है, क्योंकि इसकी कक्षा छोटी है। इसका परिणाम यह होता है कि बुध या तो पश्चिम की दिशा में सूर्यास्त के दो घंटे बाद तक या पूर्व दिशा में सूर्योदय के इतने ही समय पहले तक देखा जा सकता है; और इतना समय भी तब मिलता है जब बुध सूर्य से एक ओर या दूसरी ओर महत्तम कोणीय दूरी पर पहुँचता है। साधारणतः सूर्यास्त के बाद बुध शीघ्र ही डूब जाता है, या सूर्योदय के थोड़े ही समय पहले उदय होता है। फिर, सूर्यास्त के कुछ समय बाद तक पश्चिमीय आकाश और सूर्योदय के कुछ समय पहले तक पूर्वीय आकाश लाल रहता है। इन्हीं कारणों से बुध को बहुत कम लोग देख पाते हैं। शहरों के रहनेवालों में से तो इसे इने-गिने लोगों ने ही देखा होगा, क्योंकि शहर की हवा साफ़ नहीं रहती।

(ऊपर) बुध, शुक्र और पृथ्वी की कक्षाएँ। बुध और शुक्र की कक्षाएँ पृथ्वी की कक्षा के भीतर हैं, इसीलिए ये दोनों ग्रह सूर्योदय या सूर्यास्त के कुछ घंटे पूर्व या बाद ही दिखलाई पड़ते हैं। इसी कारण इनमें कलाएँ भी दिखाई देती हैं। (नीचे बाईं ओर) बुध, शुक्र और पृथ्वी के आकारों की तुलना। (नीचे दाहिनी ओर) बुध इतना छोटा है कि वह अटलांटिक महासागर के उत्तरी भाग में बिना स्थल-भाग को छुए गेंद की तरह समा सकता है।

कभी प्रातःकाल, कभी संध्यासमय, दिखलाई पड़ने के कारण और अन्य समय अदृश्य रहने के कारण प्राचीन यूरोपीय लोगों का पहले यह विश्वास था कि वस्तुतः दो विभिन्न ग्रह हैं, जिनमें से एक प्रातःकाल और एक संध्यासमय दिखलाई पड़ता है। यहाँ तक कि इनके लिए अलग-अलग नाम भी रख लिये गये थे। प्रातःकाल दिखलाई पड़नेवाले ग्रह का नाम 'अपोलो' और संध्यासमय दिखलाई पड़नेवाले ग्रह का नाम 'मरक्युरी' रक्खा गया था। परन्तु पीछे, जब ज्योतिष

का ज्ञान बढ़ा तब पता चल गया कि ये वस्तुतः दो ग्रह नहीं हैं, केवल एक ही ग्रह कभी प्रातःकाल, कभी संध्या के समय दिखलाई पड़ता है। अब बुध को बराबर 'मरक्युरी' नाम से ही सूचित किया जाता है।

आकृति

प्रात : काल और संध्या के समय क्षितिज के पास दिखलाई पड़ने के कारण बुध की सतह की अच्छी जाँच नहीं हो पाती। परन्तु बुध काफ़ी चमकीला है, इसलिए दूरदर्शक से यह दिन में भी अच्छी तरह देखा जा सकता है। इस प्रकार बुध पर कुछ बहुत हल्की अतीक्ष्ण रेखाएँ और धब्बे देखे गये हैं। ये बड़ी मुश्किल से दिखलाई पड़ते हैं और सो भी तभी जब हमारा वायुमंडल विशेष रूप से

बुध में भी चंद्रमा की तरह कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं

कारण स्पष्ट है। पृथ्वी की कक्षा बुध की कक्षा से बाहर है, अतएव परिभ्रमण के समय विभिन्न स्थितियों में हमें बुध के अर्द्ध-प्रकाशित भाग का एक विशेष कोण ही दिखलाई पड़ता है, जो घटता-बढ़ता रहता है। ऊपर के चित्र में विभिन्न स्थितियों में बुध के वास्तविक प्रकाशित भाग के साथ-साथ उसी का पृथ्वी से दिखाई देनेवाला कला-रूप दिया गया है। (नीचे) ज्योतिषी श्रेटर के अनुसार बुध के कुछ चित्र। इनमें कलाएँ स्पष्ट हैं।

आज से लगभग पचास वर्ष पहले बुध का एक नक़शा भी तैयार किया था, जिसमें छः-सात रेखाओं की स्थितियाँ प्रदर्शित की गई थीं। परन्तु यह नक़शा सर्वमान्य नहीं हो सका। खेद की बात है कि संसार में बड़े दूरदर्शक काफ़ी संख्या में नहीं हैं, अन्यथा एक-दो दूरदर्शक से बुध आदि ग्रहों की जाँच बराबर रखी जा सकती और उनकी आकृतियों का अधिक सच्चा ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता। परन्तु इन दिनों सभी बड़े - बड़े दूरदर्शक 'नवीन ज्योतिष' संबंधी अनुसंधानों में लगे हैं। उनसे नक्षत्रों की रासायनिक तथा भौतिक बनावट आदि जानने की चेष्टा की जा रही है। इसीलिए हमें इन ग्रहों के संबंध में अभी पचास वर्ष पुरानी खोजों से ही संतोष करना पड़ता है।

ऊपर उल्लिखित रेखाओं और धब्बों को कुछ समय तक देखते रहने से पता चला कि सूर्य की परिक्रमा बुध इस प्रकार करता है कि सदा उसका एक ही भाग सूर्य की ओर रहता है, इसलिए बुध सूर्य के चारों ओर ठीक उसी प्रकार घूम रहा है जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। गति-सिद्धान्त से पता चलता है कि जब कोई तरल या अर्ध-तरल आकाशीय पिंड किसी दूसरे भारी पिंड की परिक्रमा करता है तो ऐसा ज्वार-भाटा और ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि परिक्रमा करनेवाले पिंड का अक्षभ्रमण मंद पड़ता चला जाता है और अन्तिम अवस्था यही होती है कि सदा उसका एक ही मुख केन्द्रीय पिंड की ओर रहता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि बुध का एक ही आधा भाग सदा सूर्य की ओर रहता हो और दूसरे आधे को कभी भी सूर्य का दर्शन न होता हो।

तापक्रम

यदि ऊपर की बात ठीक हुई — और संभावना यही है कि शायापरेली की बतलाई बातें ठीक हैं— तो बुध के उस आधे भाग में, जो सदा सूर्य की ओर रहता है, भयानक गरमी पड़ती होगी। एक तो बुध सूर्य के बहुत समीप है, दूसरे वहाँ वायुमंडल या बादल नहीं हैं, जिससे धूप से कोई रक्षा हो, और फिर एक आधे पर धूप बराबर पड़ा करती है, रात होती ही नहीं; इसलिए इस आधे भाग का तापक्रम इतना अधिक होगा कि वहाँ सीसा धातु भी पिघल जाएगी!

बुध पर पहाड़, पहाड़ियाँ, दरार और गडढे अवश्य होंगे, क्योंकि आरंभ में यह ग्रह इतना गरम रहा होगा कि वह अर्धतरल-सा रहा होगा। ठंडा होने पर इसकी सतह ऊबड़-खाबड़ हो गई होगी, कई जगहों में यह फट भी गई होगी। परंतु वायुमंडल और वर्षा के अभाव में ये पहाड़, टीले और दरारें आज भी वैसी ही करकराती धार के होंगे जैसे वे पहले रहे होंगे। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि हम बुध पर पहुँचे तो क्या देखेंगे। ऊँचे-ऊँचे भयानक पहाड़, गहरी दरारें और पथरीले मैदान; ऐसा भयानक तापक्रम कि छूते ही हमारे हाथ-पैर जल जायँ; ऐसी तेज़ धूप जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते; साथ ही स्याही ऐसी काली परछाइयाँ; इतना स्वच्छ नीला आकाश कि सब तारे बराबर दिखलाई पड़ते होंगे; इतना ही नहीं, आकाश इतना निर्मल होगा कि सूर्य का कॉरोना भी बराबर दिखाई पड़ता होगा! चंद्रमा के समान यहाँ भी जीव-रहित, शब्द-रहित सूना संसार होगा।
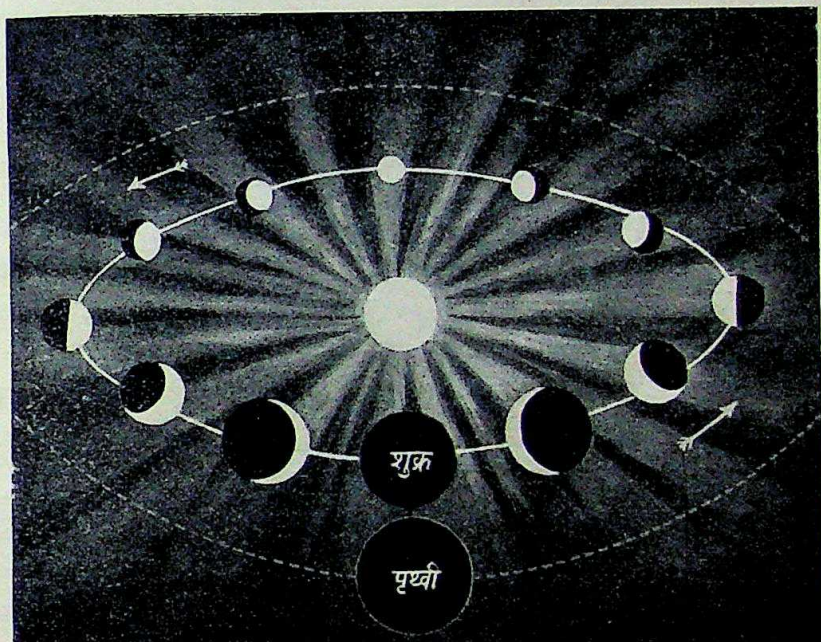
शुक्र की कलाएँ

बुध की तरह शुक्र में भी हमें कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। अपनी कक्षा में विभिन्न स्थितियों से शुक्र पृथ्वी से कैसा दिखाई देता है, यह ऊपर के चित्र में दिखाया गया है यह ध्यान देने योग्य है कि जब शुक्र पृथ्वी से दूरतम स्थिति पर होता है, तभी वह पूर्ण दिखाई देता है। पर उस समय वह बहुत छोटा दिखाई देता है। सबसे निकट आने पर सूर्य की आड़ में आ जाने के कारण शुक्र अमावस्या के चाँद की तरह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाता है।

दूसरे आधे में भी दृश्य ऐसा ही होगा, परन्तु वहाँ प्रकाश केवल तारों से ही मिलता होगा और सरदी भी बेहद पड़ती होगी।

उस आधे भाग में, जिधर बराबर धूप रहती है, सदा समान गरमी न पड़ती होगी। बुध की कक्षा गोल नहीं वरन दीर्घवृत्ताकार है; और सूर्य केंद्र पर नहीं वरन् एक ओर है। इसलिए बुध कभी सूर्य के समीप, कभी इससे दूर हो जाता है। अन्तर बहुत तो नहीं है; तो भी महत्तम गरमी लघुतम की दुगुनी होती होगी।

वायुमंडल तथा अन्य विषय

बुध पर वायुमंडल नहीं है, इसे हम निश्चय रूप से जानते हैं। यदि इस पर वायुमंडल होता तो उस समय जब बुध सूर्य के सामने पड़ जाता है यह हमको दिखलाई पड़ता, ठीक उसी प्रकार जैसे शुक्र का वायुमंडल हमको दिखलाई पड़ता है। परन्तु यदि वायुमंडल इतना गहरा न होता कि वह हमको इस प्रकार दिखलाई पड़े, तो भी हमको इसका पता चल जाता, क्योंकि कला के रूप में बुध के दिखलाई पड़ने पर शृंग (नोक) वायुमंडल के कारण कुछ अधिक लंबे दिखलाई पड़ते। इससे स्पष्ट है कि बुध वायुमंडलरहित है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं। चंद्रमा पर वायुमंडल नहीं है। इसी प्रकार बुध पर भी वायुमंडल नहीं होगा। बुध छोटा और हलका है—वह शनि और बृहस्पति के बड़े उपग्रहों से भी छोटा है। इसलिए उसकी आकर्षण-शक्ति कम है। वायु और सभी गैसों में प्रसरण का गुण होता है। गैसों के अणु एक दूसरे से टकराया करते हैं। इसलिए वायुमंडल की ऊपरी सतह में स्थित अणुओं में यही प्रगति होती है कि वे अंतरिक्ष में निकल जायँ। केवल ग्रह के आकर्षण के कारण वे ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु यदि ग्रह का आकर्षण कम हो तो वे अंतरिक्ष में चले ही जायँगे। इसलिए यदि बुध पर आरंभ में वायुमंडल रहा भी होगा तो वह बहुत समय तक न टिक सका होगा।

हम बुध की सतह को अच्छी तरह देख नहीं पाये हैं, परन्तु हम इसकी गणना आसानी से कर सकते हैं कि सूर्य से उस पर कितना प्रकाश पड़ता है। फिर हम यह भी जानते हैं कि बुध हमको कितना चमकीला जान पड़ता है। इन दोनों प्रकाशों की तुलना से पता चलता है कि बुध का धरातल बहुत चमकीला नहीं है। इस पर पड़नेवाले प्रकाश का केवल ७ प्रतिशत भाग ही लौटता है। इसलिए वहाँ के पत्थर चंद्रमा के पत्थरों से भी गाढ़े रंग के—प्रायः काले—होंगे।

बुध सूर्य के चारों ओर घूमता है और हम प्रायः बुध-कक्षा में ही रहकर इस दृश्य को दूर से देख रहे हैं। इसलिए बुध स्वभावतः कभी-कभी सूर्य के सामने पड़ जाता है और तब यह हमें सूर्य-बिंब पर नन्हें-से कलंक के समान दिखलाई पड़ता है। पूर्णतया गोल और शीघ्रगामी होने के कारण इसमें और असली सूर्य-कलंक में भ्रम नहीं हो सकता। ये रवि-बुध-गमन के अवसर ज्योतिषियों के लिए विशेष महत्व के तो नहीं हैं, परन्तु साधारण व्यक्तियों को इन्हें देखने की इच्छा हो सकती है। इसलिए भविष्य में होनेवाले रवि-बुध-गमनों की तिथियाँ नीचे दी जाती हैं:—

१९४० नवंबर १२	१९७० मई ९
१९५३ नवंबर १३	१९७३ नवंबर ९
१९६० नवंबर ६	१९८६ नवंबर १२

गमन का ठीक समय जानने के लिए पंचांग देखना चाहिए। मार्के की बात यह है कि आगामी रवि-शुक्र-गमन सन् २००४ ई० में ८ जून को लगेगा और पिछला सन् १८८२ में लगा था।

शुक्र

बुध की तरह शुक्र भी केवल प्रातःकाल या संध्या-समय दिखलाई पड़ता है, परन्तु शुक्र की कक्षा बुध की कक्षा से बड़ी है। इसलिए सूर्यास्त के चार घंटे बाद तक और सूर्योदय के चार घंटे पहले से शुक्र हमें दिखलाई पड़ सकता है। फिर शुक्र अत्यन्त चमकीला है। वस्तुतः तारे के समान दिखलाई पड़नेवाले आकाशीय पिंडों में से शुक्र ही हमें सबसे अधिक चमकीला दिखाई देता है। यह बड़ा सुन्दर भी जान पड़ता है। इसलिए सभी ने कभी-न-कभी इस पर ध्यान दिया होगा। यह इतना चमकीला है कि अँधेरी रात में इसकी ज्योति के कारण स्पष्ट परछाइयाँ पड़ती हैं।

शुक्र की चमक घटा-बढ़ा करती है। इसके दो कारण हैं। एक तो शुक्र में चंद्रमा की तरह कलाएँ बनती हैं, जिससे दूरदर्शक से देखने पर इसका बिंब हमको कभी पूरा, कभी आधा, कभी क्षीण कला-सा दिखलाई पड़ता है और कभी-कभी यह अदृश्य भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने के कारण और पृथ्वी के शुक्र-कक्षा-धरातल में रहने के कारण पृथ्वी से शुक्र की दूरी बहुत घटा-बढ़ा करती है। इससे भी प्रकाश बहुत बढ़ा-घटा करता है। परन्तु बिंब पूरा तब दिखलाई पड़ता है जब शुक्र हमसे महत्तम दूरी पर रहता है; और जब वह हमारे बहुत पास रहता है तब वह प्रायः अदृश्य रहता है। इस प्रकार प्रकाश के घटने-बढ़ने के उपरोक्त दोनों कारण एक दूसरे को कुछ हद तक काट देते हैं और परिणाम यह होता है कि शुक्र हमको सबसे अधिक चमकीला अदृश्य होने के लगभग ३६ दिन पहले या पीछे जान पड़ता है। उस समय यह पंचमी के चन्द्रमा के आकार का रहता है।

शुक्र प्रायः दिन में ही कोरी आँख से देखा जा सकता है, यह इतना अधिक चमकीला है। यदि इसे दिन में देखने की इच्छा हो तो उस समय चेष्टा करनी चाहिए जब

यह प्रातःकाल दिखलाई पड़ता हो। सूर्य को किसी मकान की ओट में डालकर शुक्र को थोड़े-थोड़े समय पर देखते रहना चाहिए, जिसमें पता रहे कि आकाश के किस भाग में यह है। इससे शुक्र दो-तीन घंटे दिन चढ़ने पर भी देखा जा सकेगा।

बुध की तरह शुक्र के भी दो नाम पड़ गए थे, 'अपोलो' और 'हेसपरस'। अब अंग्रेज़ी में इसे केवल 'वीनस' कहते हैं।

शुक्र की आकृति

शुक्र को दूरदर्शक से देखने पर बड़ी निराशा होती है। चमक के कारण यह सुन्दर अवश्य जान पड़ता है, और यदि कला पतली हुई तो यह और भी सुन्दर जान पड़ता है, परन्तु इसमें कुछ ब्योरा नहीं दिखलाई पड़ता। एक कारण यह भी है कि जब शुक्र हमारे पास आता है उस समय कला बहुत क्षीण होती है और जब बिंब का अधिकांश हमको दिखलाई पड़ता है उस समय शुक्र हमसे बहुत दूर रहता है, जिससे वह बहुत छोटा दिखलाई पड़ता है। परंतु मुख्य कारण यह है कि शुक्र में कोई देखने योग्य विशेष ब्योरा है ही नहीं।

शुक्र की असली सतह सदा बादलों के भीतर छिपी रहती है। हम केवल बादल ही देख पाते हैं। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है जैसे कुछ धब्बे दिखलाई पड़ रहे हों, परन्तु ये शीघ्र अपना रूप बदलते हैं और मिटते हैं। इसलिए यही परिणाम निकलता है कि ये धब्बे केवल विविध रंग के बादलों के कारण दिखलाई पड़ते होंगे।

शुक्र पर घने वायुमंडल के होने का प्रमाण अन्य बातों से भी मिलता है। जब शुक्र हमें कला के रूप में दिखलाई पड़ता है उस समय इसकी भीतरी रूपरेखा तीक्ष्ण नहीं दिखलाई पड़ती, अर्थात् ऐसा नहीं होता कि धूप से चमकते और साये में पड़े भागों की संधि तीक्ष्ण हो। हमें एक धज्जी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, जिसमें प्रकाश उत्तरोत्तर
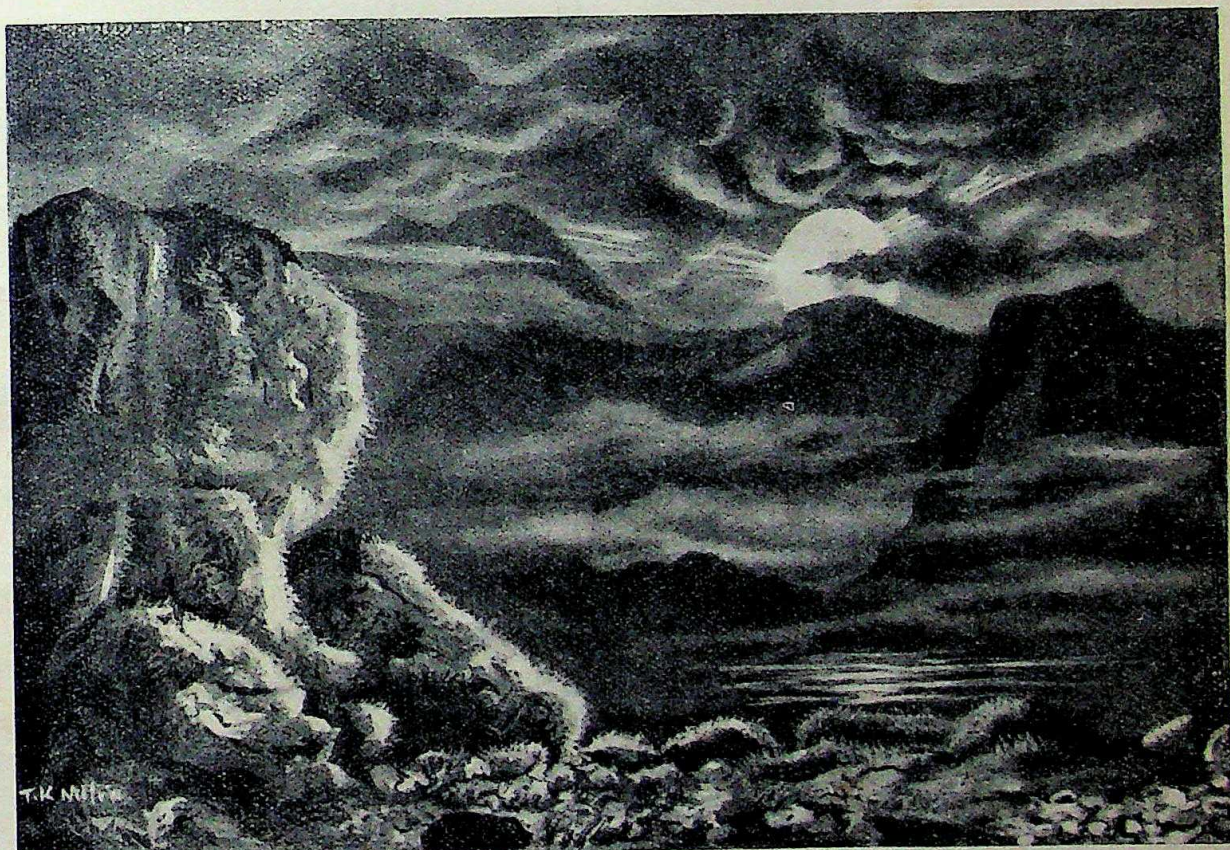
यदि हम शुक्र पर पहुँच सकें तो कैसा दृश्य हमें दिखाई देगा?

शुक्र पर घना वायुमण्डल होने के कारण दूरदर्शक द्वारा हम उसकी सतह नहीं देख पाते। केवल कल्पना के द्वारा हम अनुमान कर सकते हैं कि वहाँ आकाश में घनघोर बादल छाये रहते होंगे, जिनमें से सूर्य कभी-कभी झाँकता रहता होगा। यह भी अनुमान किया जाता है कि शुक्र पर जल और संभवतः वहाँ वनस्पति और प्राणी भी होंगे।

घटता है। यह केवल वायुमंडल के कारण हो सकता है। यदि वहाँ वायुमंडल न होता तो चन्द्रमा पर पड़नेवाली परछाइयों की तरह शुक्र की प्रकाश और परछाईंवाली संधि-रेखा भी हमको अत्यन्त तीक्ष्ण दिखलाई पड़ती।

इसके अतिरिक्त, गणना के अनुसार हमको जितनी लंबी कला दिखलाई पड़नी चाहिए उससे वह कुछ अधिक लंबी दिखलाई पड़ती है। कला की दोनों नोकें कुछ बढ़ जाती हैं। यह तभी हो सकता है जब वायुमंडल के कारण प्रकाश कुछ आगे बढ़ आता हो। फिर, चलते-चलते शुक्र ने एक बार एक तारे को ढक लिया था। उस समय तारे का प्रकाश एकाएक नहीं मिटा था, जैसा चन्द्रमा के ओट में चले जाने पर होता है। तारे का प्रकाश पहले धीरे-धीरे कम हुआ था और तब मिटा था। इससे भी यही परिणाम निकलता है कि शुक्र पर वायुमंडल है।

एक प्रमाण और है। जब शुक्र कभी सूर्य के सामने आ जाता है तो शुक्र का वायुमंडल प्रकाशित हो उठता है। इसलिए उस समय सूर्यबिंब पर हमें चमकते वायुमंडल से घिरा हुआ काला वृत्त दिखलाई पड़ता है।

अंत में, इसकी गणना करने पर कि शुक्र पर कितना प्रकाश पड़ता है और वह हमको कितना चमकीला जान पड़ता है, पता चलता है कि शुक्र की सतह आये हुए प्रकाश का ७५ प्रतिशत लौटा देती है। इससे स्पष्ट है कि शुक्र श्वेत है या श्वेत बादलों से ढका है। हम देख चुके हैं कि बुध की सतह केवल ७ प्रतिशत प्रकाश लौटाती है।

विभिन्न प्रकाशों द्वारा लिये गये शुक्र के फ़ोटो
दाहिनी ओर के ऊपर-नीचे के दो फ़ोटो परा-लाल प्रकाश से और बाईं ओर के ऊपर-नीचे के दो फ़ोटो परा-कासनी प्रकाश से लिये गये हैं। इनमें अंतर अवश्य है, पर ब्योरा के अभाव में अभी इनसे कोई विशेष बातें ज्ञात नहीं हो पाई हैं। [फ़ोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

अक्ष-भ्रमण

शुक्रबिंब पर स्पष्ट चिह्न न दिखलाई पड़ने के कारण ठीक पता नहीं चलता कि शुक्र अपने अक्ष पर एक बार कितने समय में घूम लेता है। जर्मन ज्योतिषी श्रेटर (१७४५-१८१६) का विश्वास था कि शुक्र अपनी धुरी पर २३ घंटे २१ मिनट में एक बार घूमता है। १८९० में इटैलियन ज्योतिषी शायापरेली अपने वेधों के अनुसार इस निश्चय पर पहुँचा कि बहुत संभव है कि शुक्र भी बुध की तरह इस प्रकार घूमता है, जिससे इसका एक आधा बराबर सूर्य की ओर रहता है और दूसरा आधा बराबर सूर्य से विमुख रहता है। रश्मि-विश्लेषक यंत्र से केवल इतना ही पता चल सका है कि शुक्र अवश्य २३ घंटे से कहीं अधिक समय में अपनी धुरी पर एक बार घूमता होगा। तापक्रम नापने से पता चला है कि शुक्र का अप्रकाशित भाग इतना ठंढा नहीं है, जिससे समझा जाय कि वह सदा सूर्य से विमुख रहता है। इस प्रकार न तो श्रेटर का समर्थन हुआ है और न शायापरेली का। सदा एक ही अर्द्धभाग के सूर्य की ओर रहने का अर्थ तो यह होता है कि शुक्र के अपने अक्ष पर घूमने में सवा सात महीने लगते होंगे। इसलिए अभी हम केवल इतना ही जानते हैं कि शुक्र के एक अक्ष-भ्रमण में साढ़े तेईस घंटे से अधिक और सवा सात महीने से कम समय लगता है।

क्या शुक्र पर प्राणी हैं?

सूर्य के समीप होने के कारण शुक्र पर बड़ी गरमी पड़ती होगी, परंतु सदा बादलों से ढके रहने के कारण संभव है कि सतह इतनी गरम न हो कि वहाँ प्राणी न रह सकें। परंतु अभी अंदाज़ लगाने के सिवा और कुछ नहीं किया जा सकता। यदि कभी-कभी बादल हट जाया करते और हमें असली सतह की झलक मिल जाया करती तो संभवतः अब तक कुछ ऐसे चिन्ह हमें दिखलाई पड़ गये होते जिनसे कुछ निश्चित हो जाता। यद्यपि मंगल में प्राणी रहने और न रहने के बारे में अक्सर बहस होती है तो भी इसमें संदेह नहीं कि शुक्र पर प्राणियों के होने की संभावना अधिक है। हमारा ध्यान मंगल की ओर केवल इसीलिए अधिक जाता है कि मंगल पर बादल नहीं हैं और हम उसकी सतह पर कुछ ऐसे चिह्न देखते हैं, जिनसे वहाँ के निवासियों का शिल्प दिखलाई पड़ने का हमें संदेह होता है।

बुध और शुक्र के बाद जो ग्रह सूर्य के सबसे नज़दीक पड़ता है, वह स्वयं हमारी यह पृथ्वी है। पृथ्वी का सौर परिवार में क्या स्थान है, इस पर हम आगे के लेख में विचार करेंगे।

जून २३ (क) | जून २३ (ख) | जून २३ (ग) | जून २३ (घ) | जून २३ (च) | जून २४ (क) | जून २४ (ख) | जून २४ (ग) | जून २४ (घ) | जून २४ (च)

जून २४ (छ) | जून २६ (क) | जून २६ (ख) | जून २६ (ग) | जून २६ (घ) | जून २६ (च) | जून २६ (छ) | जून २६ (ज) | जून २७ | जून २८

जून २९ | जून ३० (क) | जून ३० (ख) | जून ३० (ग) | जून ३० (घ) | जून ३० (च) | जुलाई १ (क) | जुलाई १ (ख) | जुलाई ६ | जुलाई ७

जुलाई ८ | जुलाई ९ | जुलाई १० | जुलाई ११ | जुलाई १२ | जुलाई १३ | जुलाई १४ | जुलाई १५ | जुलाई २५ | जुलाई २७

शुक्र के चालीस फ़ोटो

ये फ़ोटो अमेरिका की 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंची और ६० इंची दूरदर्शकों द्वारा एक के बाद एक उन तारीख़ों को लिये गये थे, जो प्रत्येक फ़ोटो के नीचे अंकित हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ही दिनों के अरसे में क्रमशः शुक्र किस तरह चंद्रमा की तरह क्षीण होता दिखाई दिया। (फ़ोटो— 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।)

बैरोमीटर का सिद्धान्त और विभिन्न जाति के बैरोमीटर
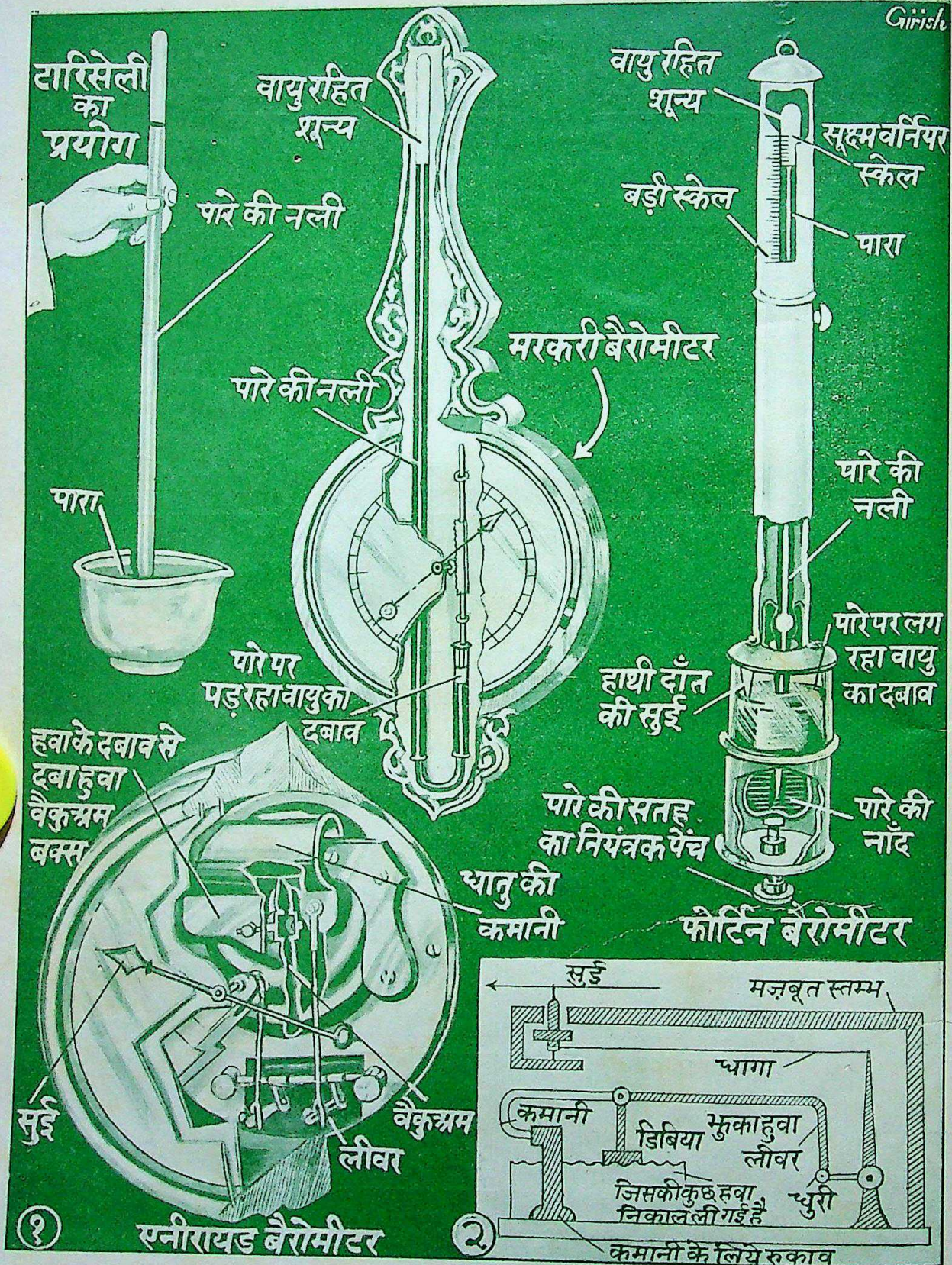
हवा का दबाव

पिछले अध्याय में हम द्रव पदार्थों के दबाव तथा उससे संबंधित विशेषताओं का अध्ययन कर चुके हैं, इस लेख में वायु के दबाव संबंधी नियमों पर प्रकाश डाला गया है ।

हमारी पृथ्वी को हवा चारों ओर से घेरे हुए है । हमारे ऊपर बहुत दूर तक यह हवा फैली हुई है । ठीक-ठीक यह किसी को भी नहीं मालूम है कि हवा कितनी ऊँचाई तक फैली हुई है । हाँ, यह बात निश्चय रूप से साबित हो चुकी है कि ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों हवा तेज़ी के साथ हलकी होती जाती है । पृथ्वीतल पर हवा सबसे ज़्यादा घनी है ।

आकाश के उर्ध्व भाग की हवा के बारे में हमें काफ़ी मात्रा में जानकारी गुब्बारों की मदद से हासिल हुई है । तरह-तरह के यंत्रों से सुसज्जित गुब्बारे आकाश में २२ मील की ऊँचाई तक पहुँच पाये हैं । इन यंत्रों के देखने से पता चलता है कि इस ऊँचाई पर भी हवा मौजूद है, किन्तु यहाँ की हवा की अपेक्षा वहाँ की हवा बहुत ही हलकी है । इससे और ऊपर हवा इतनी पतली हो जाती है कि वह गुब्बारे के बोझ को सँभाल नहीं सकती । अतः गुब्बारे इस ऊँचाई से और ऊपर नहीं चढ़ पाते ।

इसलिए यह जानने के लिए कि इससे भी अधिक ऊँचाई पर हवा मौजूद है या नहीं, हमें अन्य उपायों की शरण लेनी पड़ती है । हम जानते हैं कि जब आकाश से उल्काएँ गिरती हैं तो पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करते ही वे वायुकणों के घर्षण से उत्तप्त हो जाती हैं और उनके अन्दर से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं । यदि बनारस और लखनऊ से एक ही समय में किसी उल्का को हम दूरबीन से देखें तो इन दोनों स्थानों पर उस उल्का की कोणीय ऊँचाई हम नाप सकते हैं । बनारस और लखनऊ के बीच की दूरी हमें मालूम है, बस ज्यामिति के साधारण नियमों की सहायता से उस उल्का की तत्कालीन ऊँचाई निकाली जा सकती है ।

अब तक सबसे ऊँची उल्काएँ पृथ्वीतल से २०० मील की ऊँचाई पर देखी गयी हैं । अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हवा पृथ्वी के चारों ओर कम-से-कम २०० मील की ऊँचाई तक अवश्य फैली हुई है । फिर उत्तरी प्रकाश या अरोरा बोरियालिस आकाश में लगभग ४०० मील की ऊँचाई पर देखा गया है । अतः हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ४०० मील की ऊँचाई पर भी हवा मौजूद है; क्योंकि बाह्य जगत् से आकर विद्युत्कण जब हवा के कणों से टकराते हैं, तभी अरोरा बोरियालिस का प्रकाश उत्पन्न होता है ।

हम यह भी जानते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ को पृथ्वी अपनी ओर खींचती है । इसी आकर्षण-शक्ति के कारण हर एक पदार्थ के अन्दर हम वज़न या भार पाते हैं । हवा भी एक भौतिक पदार्थ है, अतएव इसमें भी वज़न अवश्य होगा ।

हवा में वज़न है, इस बात को साबित करने के लिए घर के अन्दर ही एक सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है । काँच की एक मज़बूत बोतल में थोड़ा पानी उबालिए । जब पानी ख़ूब उबलने लगे और भाप ज़ोरों के साथ बाहर निकल रही हो तो बोतल पर कसकर कार्क लगा दीजिये, और उसे आँच पर से उतार लीजिए । बोतल के अन्दर अब हवा नहीं है, केवल थोड़ा पानी और उसकी भाप उसमें मौजूद है । ठण्डी होने पर भाप पानी बन जायगी और बोतल के अन्दर वैकुअम हो जायगा । इसी दशा में बोतल को तौल लीजिए । फिर कार्क खोल दीजिए तो हवा बोतल के अन्दर तेज़ी के साथ प्रवेश कर जायगी । अब बोतल को कार्क सहित फिर तौलिए । इस बार बोतल का वज़न पहले की अपेक्षा ज़्यादा निकलेगा । निस्सन्देह वज़न

बढ़ने का कारण बाहर से आई हुई हवा है, जिसमें निज का भी वज़न होता है।

फिर, धुएँ के कण हवा में ऊपर मँडराते रहते हैं। इसलिए अवश्य हवा का घनत्व धुएँ के घनत्व से ज़्यादा होगा। इस बात से भी हम यही नतीजा निकालते हैं कि हवा में वज़न होता है।

अतः पृथ्वी के ऊपर ४०० मील की ऊँचाई तक जो हवा फैली हुई है, उसका बोझ ज़मीन की सभी चीज़ों पर पड़ता होगा। पृथ्वीतल की प्रत्येक वस्तु हवा के भार से दबी हुई है और इस तमाम हवा का वज़न भी कुछ कम न होगा। एक साधारण कमरे के अन्दर, जिसकी ऊँचाई २० फ़ीट तथा लम्बाई और चौड़ाई भी २० फ़ीट हो, कुल हवा का वज़न ३०० सेर के लगभग होता है!

वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा बहुत ही पतली हो गई है। पर्वत-आरोहियों को इसी कारण पर्वत-शिखर पर साँस लेने में बड़ी कठिनाई होती है। वहाँ पर्याप्त मात्रा में ऑक्सिजन ग्रहण करने के लिए उन्हें अपेक्षाकृत ज़्यादा आयतन में हवा को फेफड़े के अन्दर ले जाना पड़ता है।

वास्तव में वज़न के लिहाज़ से हम कह सकते हैं कि पृथ्वीतल से साढ़े तीन मील की ऊँचाई तक की हवा में समूचे वायुमण्डल का आधा भाग आ जाता है। ६-८ मील की ऊँचाई तक पहुँचने पर हम वज़न के लिहाज़ से वायुमण्डल के तीन-चौथाई भाग को तय कर लेते हैं। उसके ऊपर ४०० मील तक हवा अवश्य फैली हुई है, किन्तु उस सारी हवा का वज़न समूचे वायुमण्डल के वज़न का केवल एक-चौथाई रह जाता है।

हवा में वज़न होने की बात हमें और आपको यथोचित ही जान पड़ती है, किन्तु आज से ३०० वर्ष पूर्व तत्कालीन बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक भी इस बात की कल्पना नहीं कर पाये थे। एक जर्मन वैज्ञानिक आटो फॉन गेरिक ने १६५१ में पहली बार हवा के दबाव को प्रयोगों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया था।

उसने लोहे के दो अर्द्ध-गोले लिये और उन्हें एक दूसरे पर ऐसा फिट किया कि उनके अन्दर से साँस न निकल सके। जब तक उनके बीच हवा मौजूद थी, तब तक वह हवा बाहर की हवा के दबाव को रोकती थी, फलस्वरूप ये दोनों अर्द्ध-गोले आसानी के साथ अलग किये जा सकते थे। किन्तु गेरिक ने उन दोनों अर्द्ध-गोलों को एक दूसरे के ऊपर कसकर फिट करके उनके बीच की हवा निकाल ली। अब बाहर की हवा के दबाव का विरोध करने के लिए भीतर की हवा न रही। इस कारण दोनों ओर से दस-दस घोड़ों के खींचने पर भी ये अर्द्ध-गोले एक दूसरे से अलग न किये जा सके। चूँकि गोले के भीतर एकदम हवा न थी, इसलिए बाहर के वायुमण्डल का समूचा ज़ोर गोले के चारों ओर पड़ रहा था—मानों कोई दानव अपने दोनों हाथों से इस गोले को दबा रहा हो।

गेरिक का प्रसिद्ध प्रयोग

समुद्रजल की सतह के बराबर ऊँचाई की ज़मीन के प्रति वर्गइंच धरातल पर वायुमण्डल का भार ७॥ सेर के वज़न के बराबर पड़ता है। इस हिसाब से हमारे शरीर पर हवा का समूचा भार लगभग १२ टन के वज़न के बराबर होता है—मानो हम अपने कन्धों पर तीन विशालकाय हाथियों का बोझ उठाए हुए हों! तब तो इतने भारी बोझ के भार से दबकर हमारी हड्डियों को चूर-चूर हो जाना चाहिए। किन्तु वास्तव में हमें हवा का बोझ ज़रा भी महसूस नहीं होता। तो क्या हमारे शरीर पर हवा दबाव नहीं डालती? वास्तव में हमारे शरीर की रुधिर-नालियों में

रक्तप्रवाह का वेग इतना प्रबल होता है कि बाहर की हवा के दबाव को वह रोक लेता है, अतः स्वयं हमें बाहरी हवा के दबाव को महसूस करने का मौक़ा नहीं मिलता। हाँ, यदि हम एकाएक किसी ऊँचे पहाड़ पर चले जायँ, जहाँ हवा का दबाव पृथ्वीतल पर के दबाव का आधा या एक-तिहाई हो, तो ऐसी हालत में चूँकि हमारा रक्तप्रवाह पहले-जैसा प्रबल बना रहता है, किन्तु बाह्य हवा का दबाव पहले की अपेक्षा कम हो गया होता है, इस कारण रक्त-धारा नाक तथा कान की कोमल त्वचा को फाड़कर बाहर निकल आती है। इसी वजह से गुब्बारों पर सवार होकर आकाश में मीलों ऊँचे जाने के पहले उड़ाके एक विशेष ढंग की पोशाक पहन लेते हैं, जिसके अन्दर हवा का दबाव पृथ्वीतल के दबाव के बराबर ही हमेशा क़ायम रक्खा जाता है, अन्यथा ऊर्ध्वाकाश में पहुँचने पर उनके नाक-कान से भी रुधिर फूट-फूटकर निकलने लगता।

ठीक द्रवों की भाँति ही हवा का दबाव भी चारों ओर समान रूप से पड़ता है, मानो हम हवा के समुद्र की तह में बैठे हों।

हमारे शरीर पर हवा का समूचा भार १२ टन के बराबर पड़ता है मानो हम हर घड़ी तीन हाथियों का बोझ उठाये रहते हों !!

कदाचित् इस बात की ओर आपका ध्यान पहले कभी न गया होगा कि यदि हवा का दबाव काम न करता तो हमारे लिए साँस ले सकना भी सम्भव न होता। जब हम अपने फेफड़े को फुलाते हैं, तो उसके अन्दर अब पहले की अपेक्षा ज़्यादा जगह हो जाती है और इस ख़ाली जगह में वायुमण्डल के दबाव के कारण बाहर की हवा प्रवेश कर जाती है।

कुछ सदियों पहले तक लोग ठीक तौर पर इस बात को समझ नहीं पाये थे कि रिक्त स्थान (vacuum) में हवा या अन्य द्रव पदार्थ क्यों चले जाते हैं। तत्कालीन विद्वानों ने इसके लिए एक मनोरंजक कारण ढूँढ़ निकाला था। उनका कहना था कि प्रकृति किसी भी जगह को रिक्त या वैकुअम रहने देना गवारा नहीं कर सकती। कुएँ के अन्दर से पम्प द्वारा पानी खींचे जाने में भी यही सिद्धान्त काम करता है, ऐसा उनका ख़याल था। उनका कहना था कि पम्प के अन्दर की हवा जब निकाल ली जाती है तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार पम्प के भीतर के रिक्त स्थान या वैकुअम को भरने के लिए कुएँ का पानी फ़ौरन् ऊपर को दौड़ता है, और इस तरह पम्प की टोंटी के रास्ते बाहर आ गिरता है।

परन्तु कुछ दिनों उपरान्त पम्प लगानेवालों ने देखा कि यदि कुएँ की गहराई ३४ फ़ीट से अधिक होती है तो पम्प द्वारा ऊपर तक पानी हरगिज़ नहीं चढ़ाया जा सकता। यह बात १७ वीं सदी की है। उस समय के सबसे बड़े वैज्ञानिक गैलीलियो से जब लोगों ने इसका कारण पूछा तो उसने सिर खुजलाकर उत्तर दिया कि मालूम पड़ता है कि रिक्त स्थान को प्रकृति एक हद तक ही नापसन्द करती है। रिक्त स्थान को भरने के लिए पानी ३४ फ़ीट की ऊँचाई तक तो चढ़ सकता है, किन्तु उससे आगे नहीं।

गैलीलियो के शिष्यों में से टॉरिसेली की बुद्धि विशेष प्रखर थी। अपने गुरुवर के उस उत्तर से वह सन्तुष्ट न हुआ। उसने उस सम्बन्ध में स्वयं प्रयोग करने शुरू किये। उसने काँच की एक गज़ लंबी नली ली, जिसका एक सिरा बन्द था और दूसरा खुला। उस नली में उसने मुँहामुँह पारा भर दिया और खुले मुँह को उँगली से दबाकर, ताकि पारा बाहर गिरने न पाये, उसने नली पारे से भरे हुए एक प्याले के अन्दर उलटी खड़ी कर दी। यद्यपि नली का खुला हुआ मुँह नीचे पारे के अन्दर था, फिर भी नली के अन्दर का तमाम पारा नीचे प्याले में नहीं गिरा। उस लम्बी नली में लगभग ३० इंच लम्बा पारे का स्तम्भ खड़ा रह गया। नली में ऊपर ६ इंच लम्बी जगह अवश्य खाली हो गई—इस जगह में कुछ भी न था, यहाँ पूर्ण वैकुअम था; क्योंकि नली को टेढ़ी करने से पारा समूची नली को भर लेता था। यदि ऊपर की जगह में हवा होती तो पारा हरगिज़ नली के ऊपरी सिरे तक न पहुँच पाता।

अब प्रश्न उठा कि इस रिक्त स्थान को भरने के लिए पारा ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ? टॉरिसेली ने पहली बार इस प्रयोग द्वारा दिखाया कि यह कहना कि प्रकृति किसी स्थान को रिक्त रहने देना गवारा नहीं कर सकती, ग़लत है। टॉरिसेली ने सही कारण को पहचाना कि काँच की नली के अन्दर पारे का स्तम्भ वास्तव में बाहरी हवा के दबाव के सहारे खड़ा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हवा का दबाव नली के अन्दर खड़े हुए ३० इंच लम्बे पारे के स्तम्भ के भार के बराबर है। इस प्रयोग में यदि नली केवल २८ इंच लम्बी ली जाय, तो प्याले के अन्दर नली को उलटी खड़ी करने पर पारा नली में से नीचे तनिक भी न गिरेगा बल्कि पूरी नली में पारा ज्यों-का-त्यों खड़ा रहेगा।

और यदि नली ६० इंच लम्बी हुई तो उसके अन्दर भी पारा केवल ३० इंच ही चढ़ेगा तथा नली के ऊपरी ३० इंच लम्बे हिस्से में वैकुअम बना रहेगा। वास्तव में प्रकृति को रिक्त स्थान भरने की कोई फ़िक्र नहीं।

अब लोगों ने इस बात को भी समझा कि पम्प के भीतर पानी हवा के दबाव के कारण ही चढ़ता है। चूँकि पारे की अपेक्षा पानी १३·६ गुना हलका है, अतः ३० इंच लम्बे पारे के स्तम्भ के बराबर भार उत्पन्न करने के लिए पानी को पारे की अपेक्षा १३·६ गुना ज़्यादा ऊँचा चढ़ना होगा। ३०×१३·६ इंच लगभग ३४ फ़ीट के बराबर होता है। बस पम्प के अन्दर पानी ज़्यादा-से-ज़्यादा ३४ फ़ीट ऊँचा चढ़ सकता है।

किसी कारण यदि हवा का दबाव कम हो जाय तो वह ३० इंच ऊँचे पारे के स्तम्भ को सँभाल न सकेगा। अब शायद पारा उस नली के अन्दर २९ इंच ही ऊँचा खड़ा होगा। इस प्रकार नली के अन्दर पारे की ऊँचाई नापकर हवा के दबाव का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। हवा के इस दबाव को नापनेवाले यंत्र को बैरोमीटर के नाम से पुकारते हैं। चूँकि इस यंत्र में पारा काम में आता है, इसलिए इसे पारे का बैरोमीटर कहते हैं। संसार के सर्व-प्रथम बैरोमीटर बनाने का श्रेय टॉरिसेली को प्राप्त है। आजकल के बैरोमीटर टॉरिसेली के बनाये हुए बैरोमीटर के ही परिष्कृत रूप हैं।

ऊँचे स्थानों पर बैरोमीटर के अन्दर पारा कम ऊँचा चढ़ता है, क्योंकि समुद्र की सतह की अपेक्षा वहाँ हवा का दबाव कम हो जाता है। समुद्र की सतह से ९०० फ़ीट की ऊँचाई पर जाने पर बैरोमीटर का पारा एक इंच नीचे गिरता है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर जाते हैं, हवा का घनत्व भी कम होता जाता है। अतएव ९०० और १८०० फ़ीट के बीच की हवा का वज़न उतना न होगा, जितना समुद्र की सतह और ९०० फ़ीट की ऊँचाई के बीच की हवा का वज़न। इसी कारण १८०० फ़ीट की ऊँचाई पर बैरोमीटर का पारा पूरे २ इंच नहीं गिरेगा, बल्कि कम गिरेगा। ऊँचाई के बढ़ने के साथ बैरोमीटर का पारा गणित के एक विशेष नियम के अनुसार गिरता है। हवाई जहाज़ तथा गुब्बारे में लगे हुए बैरोमीटर में हवा का दबाव देखकर इस नियम की सहायता से हम जान सकते हैं कि हवाई जहाज़ या गुब्बारा कितनी ऊँचाई पर उड़ रहा है। एवरेस्ट शिखर पर बैरोमीटर में पारा केवल ७॥ इंच ऊँचा चढ़ेगा।

किन्तु एक ही स्थान पर भी हवा का दबाव प्रतिदिन एक-सा नहीं रहता। गर्मी और बरसात में हवा का दबाव प्रायः कम हुआ करता है, और जाड़े में ज़्यादा। जब हवा में पानी की भाप अधिक आ जाती है तो इस भाप को स्पंज की तरह हवा अपने में सोखती नहीं है, बल्कि पानी की भाप जितनी जगह घेरती है, उतनी जगह से हवा को वह भगा देती है। चूँकि भाप का घनत्व हवा के घनत्व से कम होता है, इसलिए नम हवा के भार का उसी तापक्रम की सूखी हवा के भार से कम होना लाज़िमी है। किन्तु भरपूर नम हवा और सूखी हवा के दबाव में अधिक-से-अधिक आधे इंच का अन्तर पड़ सकता है, जबकि वास्तव में बैरोमीटर के पारे की ऊँचाई में प्रायः एक या दो इंच तक की कमी हो जाया करती है। अतएव हवा के दबाव में अन्तर डालनेवाला कोई अन्य कारण भी अवश्य होगा।

सूर्य्य की प्रखर किरणों से उत्तप्त होने पर हवा गर्म होकर हलकी हो जाती है, इस कारण उसका भार कम हो जाता है। यदि नीचे से ऊपर को हवा की धारा बहती हुई हो तो बैरोमीटर में पारे की ऊँचाई और भी कम हो जायगी और ऐसी दशा में अन्य प्रदेशों से जहाँ पर हवा का दबाव ज़्यादा है, उस स्थान पर हवा दौड़कर आएगी और तब अपने साथ वह आँधी और पानी ला सकती है। इसके प्रतिकूल यदि हवा का दबाव अधिक हुआ तो हम अच्छे ऋतु की आशा कर सकते हैं, इस समय आँधी या पानी की आशंका न रहेगी।

इस प्रकार बैरोमीटर के अन्दर की ऊँचाई को देखकर ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी की जा सकती है। किन्तु ऋतु-परिवर्त्तन एकमात्र हवा के दबाव पर ही निर्भर नहीं है। अकेले बैरोमीटर के सहारे की गई भविष्यवाणी हमेशा

सही नहीं उतरती। इतना अवश्य है कि उष्ण कटिबन्ध के देशों में शीतोष्ण कटिबन्ध के देशों की अपेक्षा ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी के लिए बैरोमीटर पर ज़्यादा भरोसा किया जा सकता है।

पारेवाले बैरोमीटर को आसानी के साथ एक जगह से दूसरी जगह ले नहीं जा सकते। हवाई जहाज़ या गुब्बारे में पारेवाले बैरोमीटर का रखना बड़ी दिक्कत का काम होगा। ऐसे मौक़े पर इस्तेमाल करने के लिए एनीरायड बैरोमीटर बनाया गया है। पारा या अन्य कोई द्रव्य उसमें काम में नहीं आता। इस बैरोमीटर में धातु की पतली चद्दर की बनी एक डिबिया होती है। इस डिबिया के अन्दर की हवा निकाल ली गयी होती है, और इसके ढक्कन को एक मज़बूत कमानी सँभाले रहती है, ताकि बाहर की हवा के दबाव से डिबिया एकदम पिचक न जाय। इस ढक्कन का दो-तीन लीवरों के सहारे एक सुई से सम्बन्ध रहता है। ढक्कन पर हवा का दबाव कम या ज़्यादा होता है तो वह बाहर या भीतर की ओर लच जाता है, फलस्वरूप सुई एक डायल पर घूमती है। डायल के ऊपर इंच के निशान बने होते हैं, जिससे दबाव का पता फ़ौरन् लग जाता है। किन्तु डायल पर निशान लगाने के लिए पारे के बैरोमीटर के साथ एनीरायड बैरोमीटर का मिलान करना पड़ता है।
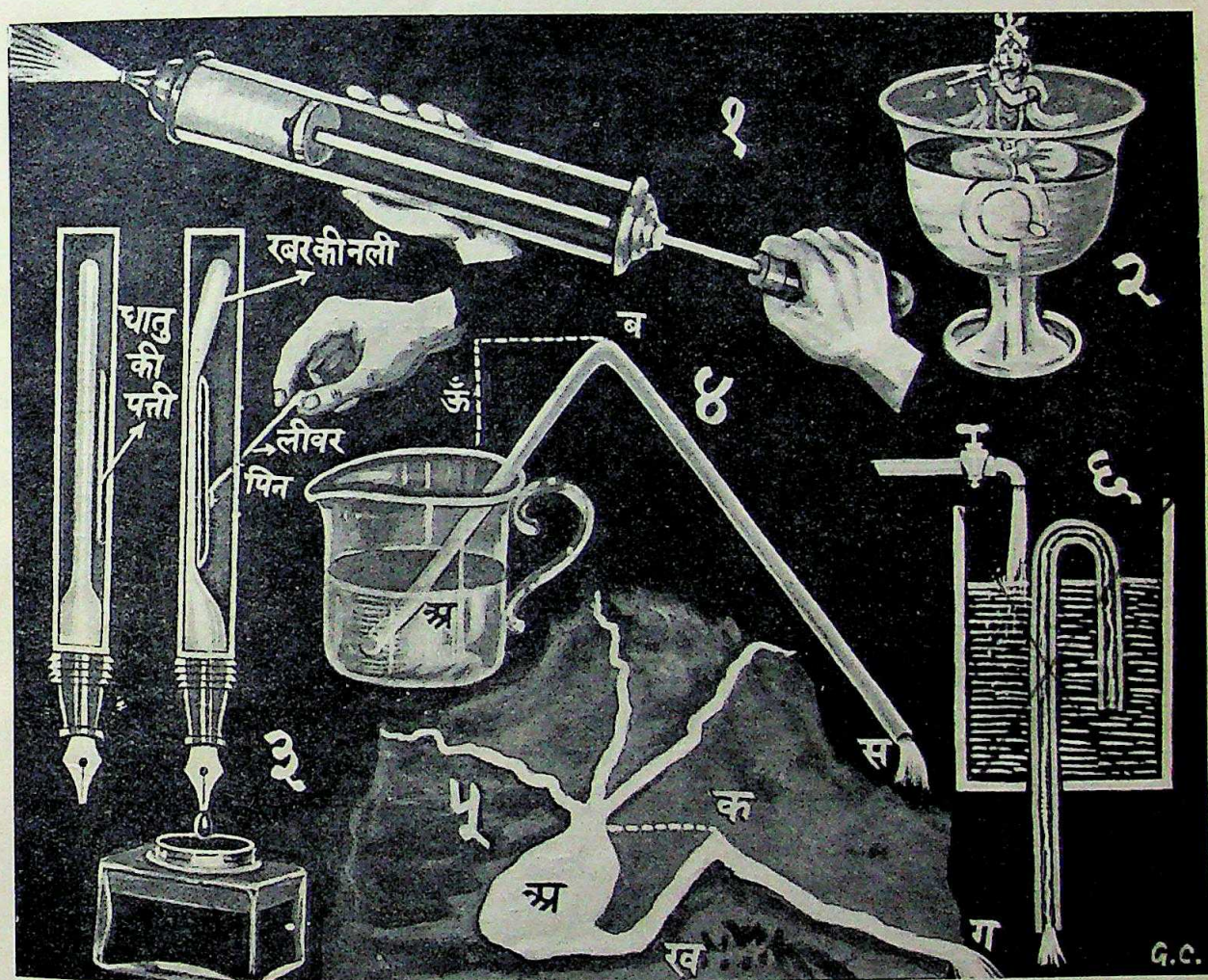
हवा के दबाव के बल पर काम करनेवाली हमारी रोज़मर्रे की ज़िन्दगी की कुछ चीज़ें

१. पिचकारी; २. वासुदेव का प्याला; ३. फाउन्टेनपेन, जिसमें स्याही हवा के दबाव से ही भर जाती है; ४. साधारण सायफ़न; ५. पहाड़ी झरना; ६. फ्लश करने की टंकी जिसमें सायफ़न के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। (विशेष विवरण के लिए दे० पृष्ठ ८०८ का मैटर)।

हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में काम आनेवाली अनेक वस्तुएँ हवा के दबाव के बल पर ही काम करती हैं। कमानी दबाते ही फ़ाउन्टेनपेन के अन्दर स्याही हवा के दबाव के कारण भर जाती है। फाउन्टेनपेन के अन्दर एक रबर की नली होती है, जो कमानी का लीवर दबाने पर दबती है और फलतः उसके अन्दर की हवा बाहर निकल जाती है। जब स्याही की दावात के अन्दर निब को डालकर लीवर को छोड़ देते हैं तो हवा के दबाव के कारण स्याही रबर की नली में चढ़ जाती है (दे० ८०७ पृ० के चित्र में नं० ३)।

पिचकारी के अन्दर भी पानी हवा के दबाव के बल पर चढ़ता है। पिचकारी का गट्टा जब ऊपर को खींचा जाता है तो खोखली नली के अन्दर जगह ख़ाली हो जाती है। वहाँ हवा का दबाव कम हो जाता है। अतः बाहर की हवा के दबाव से टोंटी के रास्ते पानी ऊपर चढ़ जाता है (दे० उक्त चित्र में नं० १)।

एक अनोखा किन्तु सीधा-सादा यंत्र साइफ़न भी है, जो हवा के दबाव के कारण ही काम करता है। एक शीशे की नली **'अ ब स'** लीजिए जो **'ब'** पर मुड़ी हो, और जिसकी भुजा **'ब स'**, **'अ ब'** से लम्बी हो (देखो उक्त चित्र में नं० ४)। नली को उलटी करके पहले मुहाँ-मुँह पानी भर लीजिये। फिर नली सीधी करने पर आप देखेंगे कि नली का तमाम पानी भुजा **'ब स'** के रास्ते नीचे गिर गया और भुजा **'अ ब'** के रास्ते एक बूँद भी नहीं गिरा।

यदि पानी से भरी हुई यह नली इस तरह रक्खी जाय कि सिरा **'अ'** एक गिलास में रक्खे हुए पानी के अन्दर दूर तक डूबा हो, तो आप देखेंगे कि **'ब स'** के रास्ते से गिलास का पानी निरन्तर गिरने लगता है। पानी का गिरना उस वक़्त रुकता है, जब गिलास में पानी की सतह **'स'** से नीचे चली जाती है। इस प्रयोग के सिलसिले में यह भी बात देखी गयी है कि **'अ ब'** की लम्बवत् ऊँचाई **'ऊँ'** ३४ फ़ीट से अधिक हुई तो फिर उस नली द्वारा गिलास का पानी नहीं उलीचा जा सकता। ऐसी दशा में **'ब अ'** बाजू का पानी **'अ'** के रास्ते गिर पड़ेगा और **'ब स'** का पानी **'स'** के रास्ते!

उक्त प्रयोग की नली का नाम साइफ़न है। साइफ़न नली द्वारा पानी उलीचे जाने के लिए निम्नलिखित तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है :—

१. नली प्रारम्भ में भरी होनी चाहिये।
२. नली का सिरा **'स'** गिलास में रक्खे हुए पानी की सतह से नीचे होना चाहिये।
३. **'अ ब'** की लम्बवत् ऊँचाई ३४ फ़ीट से कम होनी चाहिये।

साइफ़न के प्रयोग में गिलास में रक्खे हुए पानी के धरातल पर हवा का दबाव पड़ता है, जो पानी को बाज़ू **'अ ब'** में चढ़ा देता है और यह पानी बाज़ू **'ब स'** में जाता है। किन्तु लम्बी भुजा में भुजा **'अ ब'** की अपेक्षा पानी का भार ज़्यादा है। **'अ'** और **'स'** दोनों जगह बाहर की हवा का दबाव एक-सा है, अतएव जब तक तली की दोनों भुजाओं में पानी भरा रहेगा, पानी लम्बी भुजा के रास्ते ही नीचे गिरेगा। लम्बी भुजा का पानी जब नीचे सरकता है तो **'ब'** पर ख़ाली जगह भरने के लिए **'अ ब'** से पानी आता है, और इस तरह नली द्वारा पानी निरन्तर प्रवाहित होने लगता है।

गन्दी नालियों को ख़ाली करने के लिए अक्सर साइफ़न का प्रयोग होता है। बड़े-बड़े स्टेशनों पर पेशाबघरों में ऊपर छत पर हौज़ बने रहते हैं, जिनमें से साइफ़न नली द्वारा पानी थोड़ी-थोड़ी देर पर नीचे को वेग के साथ गिरता रहता है (दे० उक्त चित्र में नं० ६)।

वासुदेव के प्याले का खिलौना भी इसी सिद्धान्त पर बना होता है। प्याले के अन्दर धीरे-धीरे पानी भरते हैं। जिस वक़्त पानी की सतह श्रीकृष्ण की मूर्ति के चरणों को छूती है, उस वक़्त पेंदे में लगे हुए साइफ़न ट्यूब के अन्दर पूर्ण रूप से पानी भर जाता है और यह चालू हो जाता है। फलस्वरूप कुछ ही क्षणों में साइफ़न के रास्ते प्याले का पानी बाहर गिर जाता है (दे० उक्त चित्र में नं० २)।

पहाड़ी मुल्कों में कुछ ऐसे भी झरने होते हैं जो कुछ काल तक सुषुप्त रहते हैं, फिर जाग उठते हैं और पुनः बन्द हो जाते हैं। इस तरह थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त ये सोते पानी दिया करते हैं। ये भी प्राकृतिक साइफ़न के बल पर काम करते हैं।

ऐसे सोतों में पानी धीरे-धीरे **'अ'** में इकट्ठा होता है (देखो उक्त चित्र में नं० ५)। जब इसकी सतह **'क'** के बराबर ऊँची हो जाती है तो साइफ़न **'ख क ग'** जारी हो जाता है, और **'अ'** का सारा पानी सोते के रास्ते बाहर निकल जाता है। अब सोता सूख जाता है। पानी धीरे-धीरे **'अ'** में फिर इकट्ठा होने लगता है और **'क'** के बराबर पानी की सतह के पहुँचते ही सोता एक बार और जारी हो जाता है।

मूलतत्त्व

वे पाँच और ये नब्बे !

द्रव्य जगत् का निर्माण करनेवाले मूलतत्त्वों का विवेचन।

मानव ज्ञान का इतिहास तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम युग अथवा ज्ञान की शैशवावस्था में मनुष्य का मस्तिष्क मूढ़ विश्वासों तथा मिथ्या विचारों से भरा पड़ा था। इस युग का मनुष्य वैज्ञानिक सत्य से बहुत दूर था। वह अपने चारो ओर होती हुई प्राकृतिक घटनाओं का निरीक्षण तो करता था, किन्तु उनके सच्चे कारणों को समझ लेने में वह सर्वथा असमर्थ था। जो बात मनुष्य की बुद्धि के परे होती है, उसे वह बहुधा अलौकिक अथवा ईश्वरीय समझने लगता है; अतएव उस काल के मनुष्य के लिए यह समझ लेना स्वाभाविक ही था कि प्राकृतिक घटनाएँ विभिन्न अलौकिक शक्तियों द्वारा ही प्रेरित होती हैं। आँधी और पानी, बिजली और बादल, बाढ़ और भूकम्प, ग्रहण और उल्कापात, आदि बड़ी-से-बड़ी प्राकृतिक घटनाओं से लेकर छोटी-से-छोटी भौतिक और रासायनिक घटनाओं को भी वह दैवी अथवा अलौकिक शक्तियों द्वारा प्रेरित समझता था। इन्हीं धारणाओं के आधार पर मनुष्य ने अज्ञानवश देवों और दैत्यों, भूतों और पिशाचों, चुड़ैलों और डाइनों, शकुनों और अपशकुनों,

(ऊपर) यह माना जाता था कि ग्रहण के समय राहु नामक राक्षस चंद्रमा को डस लेता है और वर्षा तथा बिजली इन्द्र के बज्र-प्रहार के कारण होते हैं। (दाहिनी ओर) अम्लराज में घुलते हुए सोने का शेर द्वारा हड़पे जाते हुए सूर्य के प्रतीक द्वारा और रसपुष्प के रसकपूर में परिवर्तन होने की क्रिया का अपनी ही पूँछ हड़पते हुए अजगर के प्रतीक द्वारा प्रतिदर्शन।

जादू और टोनों, मंत्रों और तंत्रों, इन्द्रजालों और अभिचारों, आदि की सैकड़ों मिथ्या कल्पनाएँ गढ़ डालीं। उदाहरणार्थ, चन्द्रग्रहण के सत्य को न समझ सकने के कारण उसने राहु की कल्पना की और जलवर्षा के रहस्यों को न सुलझा सकने के कारण उसने इन्द्र के अस्तित्व को माना। वेदों में, विशेषतः ऋग्वेद और अथर्ववेद में हमें इस युग के विचारों की बहुत कुछ झलक मिलती है। अथर्ववेद तो ऐंद्रजालिक तथा भूत-पिशाच सम्बन्धी विद्याओं से भरा पड़ा है।

इस युग का मनुष्य पदार्थों की रचना तथा उनमें होनेवाले परिवर्त्तनों की वास्तविकता से भी नितांत अनभिज्ञ था। पत्थर के युग को पार करके वह लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, पारा आदि धातुओं, तथा शीशा, रंग आदि अनेक रासायनिक पदार्थों का निर्माण तथा उपयोग कर लेने लगा; लेकिन दुर्भाग्यवश तब भी वह उनकी वैज्ञानिकता से वंचित रहा। उसको यह सारा कार्य सिखानेवाला अनुभव था, तर्क नहीं—उसकी कारीगरी कलात्मक थी, वैज्ञानिक नहीं। नीचे दिए हुए उद्धरणों से उस समय के मानव मस्तिष्क की अवस्था का कुछ परिचय मिलेगा। अथर्ववेद के मुक्ता-सम्बन्धी एक मंत्र का कुछ अंश इस प्रकार है,—"देवताओं की अस्थि मोती में परिणत हो गई, जो सजीव होकर सागर में निवास करती है"। रसार्णव नामक तंत्र में हर गौरी से कहते हैं,—"अभ्रक तेरा बीज है और पारद मेरा। दोनों का संयोग, हे देवी, मृत्यु और दरिद्रता का संहार कर देता है"। रसपुष्प (पारा से बना हुआ 'पारदिक क्लोराइड' नामक एक विषालु यौगिक) जब पारा के साथ गर्म किया जाता है तो वह रसकर्पूर (पारदस क्लोराइड) में परिणत हो जाता है। इस रासायनिक घटना का वर्णन योरप का एक प्राचीन रासायनिक इस प्रकार करता है,—"भयानक अजगर वशीभूत होकर ऐसा अधीन हो जाता है कि वह स्वयं अपनी ही पूँछ को हड़प लेने के लिए वाध्य होता है।" एक अन्य प्राचीन पाश्चात्य पुस्तक में अम्लराज (अर्थात् हाइड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक अम्लों के मिश्रण) में घुलते हुए सोने को शेर द्वारा हड़पे जाते हुए सूर्य से प्रतिदर्शित किया है। पाठकों ने देखा होगा कि ये सारे कथन वैज्ञानिक दृष्टि से उपहासास्पद अथवा अर्थहीन हैं।

प्राचीन जातियों द्वारा अपने उद्योग-धंधों में रसायन का प्रयोग

(क) प्राचीन चीनी लोग जस्ता धातु निकाल रहे हैं; (ख) प्राचीन यूनानियों के जल-स्रवण आदि के यंत्र; (ग और घ) प्राचीन मिस्री स्वर्णकार सुवर्ण को गला, पी और तौल रहे हैं।

कुछ ही हज़ार वर्ष पहले समस्त मानव जाति ज्ञान की इसी अवस्था में जीवन-यापन कर रही थी; किन्तु इस युग का अन्त अब भी हो गया है, यह कहना ठीक न होगा। दुर्भाग्यवश आज भी मानव जाति का एक बहुत बड़ा भाग इसी प्रथम युग का प्रतिनिधि

है। ज्ञान के तीनों युग, वास्तव में, एक दूसरे से पृथक् नहीं वरन् सम्मिश्रित हैं।

ज्ञान के दूसरे युग में अथवा यों कहिए कि ज्ञान की बाल्यावस्था में मनुष्य की मानसिक चेष्टा केवल मूढ़ विश्वासों तक ही सीमित न रह गई। उसे इनके औचित्य में कुछ-कुछ संदेह होने लगा और वह सत्य की खोज के लिए व्याकुल हो उठा, लेकिन दुर्भाग्यवश अब भी वह इस खोज के लिए वैज्ञानिक सामर्थ्य एवं साधन उपलब्ध न कर सका। अतएव वह तर्क-वितर्क द्वारा गहरे विचारों में लीन होकर सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करने लगा। इस प्रकार इस युग में मनुष्य दार्शनिक में परिणत हो गया। इस युग को इसीलिए दार्शनिक युग कहते हैं। कपिल और कणाद, प्लेटो और अरिस्टॉटल, आदि महा-पुरुष इस युग के महान् प्रतिनिधि हैं। इस काल का प्रारम्भ लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले हुआ था। जो कुछ वैज्ञानिक अथवा आधिभौतिक सत्य मनुष्य इस युग में उपलब्ध कर सका, वह सब अपने निरीक्षण तथा दार्शनिक तर्क-वितर्कों के बल पर ही, अन्य किसी वैज्ञानिक साधन के सहारे नहीं।

प्राचीन भारतवासियों के कुछ रासायनिक यंत्र

प्राचीन भारतवासियों ने विशेषकर आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। इस सिलसिले में विभिन्न रासायनिक क्रियाओं से उन्होंने परिचय प्राप्त किया था और वे तरह-तरह के यंत्रों का प्रयोग किया करते थे।

इसके माने यह नहीं कि मनुष्य केवल दार्शनिक ही था। वह महान् कलाकार भी था, लेकिन उसकी कलाएँ अब भी अन्ध-विश्वासों से बुरी तरह मिश्रित थीं। वह यौगिकों से अनेक धातुएँ निकाल सकता था और इन धातुओं से न केवल आभूषण, अस्त्र, आदि वरन् अनेक उपयोगी रस, लवण आदि यौगिकों को भी तैयार कर सकता था। भारतवर्ष के चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, वाग्भट्ट, तथा अरब के जब्बीर और फारस के अलरज़ी इन रासायनिक कलाकारों के कुछ उदाहरण हैं।

इस दार्शनिक युग में जब मनुष्य के दार्शनिक चक्षु सबसे पहले सृष्टि के प्रति खुले तो उसे सृष्टि के द्रव्यों में भौतिक गुणों की विभिन्नता का अनुभव हुआ। इस अनुभव के फलस्वरूप उसके समक्ष पाँच विभिन्न वस्तुएँ अपने महान् अस्तित्व का विज्ञापन करने लगीं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। उसने देखा कि सारी सृष्टि का निर्माण इन्हीं पाँच प्रकार की वस्तुओं से हुआ है, अतएव ये पाँचों सृष्टि के मूलतत्त्व कहलाए। पृथ्वी ठोस वस्तुओं का मूलतत्त्व समझी गई, जल तरल पदार्थों का, वायु गैसीय वस्तुओं का, अग्नि शक्ति का और आकाश उस शून्य का मूलतत्त्व समझा गया जिसमें सारी सृष्टि विस्तृत है। सृष्टि के सारे द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओं—ठोस, द्रव अथवा गैस,—में होता है; इसके अतिरिक्त उसमें जो कुछ है वह या तो शक्ति के रूप में है, अथवा 'ईथर' के रूप में शून्य में विस्तृत है। अतएव भौतिक दृष्टि से हमारे पुरातन पुरुषों का यह वर्गीकरण वैज्ञानिक एवं महत्वपूर्ण है। कपिल के सांख्य दर्शन में इन मूलतत्त्वों का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। ग्रीस के अरिस्टॉटल और उसके पहले के दार्शनिक केवल प्रथम चार मूलतत्त्वों को ही मानते थे और चीन के दार्शनिक पाँच मूलतत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, काष्ठ और धातु—की व्याप्ति में ही विश्वास करते थे। अतः यह स्पष्ट है कि

भौतिक दृष्टि से भारतीयों का वर्गीकरण सबसे बढ़ा-चढ़ा था। किंतु रासायनिक दृष्टि से इन सारी मूलतत्त्व संबंधी कल्पनाओं का कोई आधार ही न था। ईसा के कई सौ वर्ष पहले से ही मूलतत्त्व संबंधी यही धारणाएँ ज्ञानियों में प्रचलित थीं; और यद्यपि आज विज्ञान-जगत् में ये मूलतत्त्व केवल ऐतिहासिक महत्व के रह गए हैं, तथापि कवियों और कलाविदों में अब भी उनके प्रति आदर है। तुलसी आदि पुराने कवियों से लेकर हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं तक में पंचतत्त्व की कल्पना का उपयोग हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी में भी 'the fury of the elements' आदि कथन अब भी प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनका उपयोग विज्ञान के प्रचार के साथ-साथ कम होता जा रहा है।

अपनी विचार-शक्तियों द्वारा हमारे प्राचीन दार्शनिक केवल पंचतत्त्वों तक ही नहीं, अणुओं और परमाणुओं तक भी पहुँच गए थे। कणाद के हज़ारों वर्ष पहले के अणु और परमाणु संबंधी विचार हमें आज भी आश्चर्यान्वित करते हैं। योरप में तो परमाणुवाद का संदेश केवल लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले सन् १८०८ ई० में जॉन डाल्टन ने दिया था। हाँ, डाल्टन के परमाणु संबंधी सिद्धांत अधिक परिपक्व अवश्य थे।

यह सब कुछ होते हुए भी, केवल दार्शनिक शक्तियों के बल पर विज्ञान का क्रमबद्ध विकास भला कैसे संभव हो सकता था। यह असंभव था कि दर्शन सारी प्राकृतिक घटनाओं के रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकता। अतएव सत्य के अन्वेषण के लिए इस ओर मनुष्य की वैज्ञानिक वृत्तियाँ विचलित हो उठीं। इस प्रारंभिक वैज्ञानिक चेष्टा का श्रेय योरपवालों को ही प्राप्त है। इन चेष्टाओं के साथ-साथ ही मनुष्य के ज्ञान की प्रौढ़ावस्था अर्थात् उसके वैज्ञानिक युग का परिवर्त्तन होता है। इस युग का प्रारंभ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से होता है, अर्थात् इसको शुरू हुए तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए। इसके पहले योरप में लोग रासायनिक विधियों द्वारा पारस पत्थर (philosophers' stone), अथवा अमृत (elixir of life) अथवा औषधियों को ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न में लगे हुए थे। राबर्ट ब्वॉयल ने पहले-पहल इन ध्येयों का तिरस्कार किया। उसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए किया, और विज्ञान-जगत् को प्रयोगों के महत्त्व का संदेश दिया। राबर्ट ब्वॉयल ने ही सबसे पहले यह दिखलाया कि रासायनिक दृष्टि से पंचतत्त्व का सिद्धांत निराधार है। उसने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सुवर्ण अन्य वस्तुओं से संयुक्त होकर विभिन्न यौगिकों में तो परिणत हो सकता है, लेकिन स्वयं उससे कोई अन्य पदार्थ नहीं निकल सकता; अर्थात् सुवर्ण एक ऐसा द्रव्य है जो दो या अधिक सरलतर पदार्थों में विच्छेदित नहीं हो सकता। किसी भी विधि द्वारा वह सुवर्ण से पंचतत्त्वों को न निकाल सका, अतएव उसने साहस के साथ पंचतत्त्वों के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया और स्वयं सुवर्ण को ही एक मूलतत्त्व माना। इसी प्रकार अन्य सभी धातुएँ भी मूलतत्त्व सिद्ध हुईं। आज दिन भी, ब्वॉयल के अनुसार, मूलतत्त्व द्रव्य के किसी ऐसे प्रकार को कहते हैं जो दो या अधिक

राबर्ट ब्वॉयल (१६२७-१६९१)

जिसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए स्थापित कर आधुनिक रसायन विज्ञान की नींव डाली।

सरलतर पदार्थों में विच्छेदित न हो सकता हो, अर्थात् जिसमें एक ही प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व हो। राबर्ट ब्वॉयल के समय में ही इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी में वैज्ञानिक सभाएँ खुलीं, और लगभग इसी समय में गैलीलियो, न्यूटन आदि महान् वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों द्वारा भौतिक विज्ञान को भी आगे बढ़ाया। अतः वैज्ञानिक अनुसंधान का कार्य उत्साहपूर्वक होने लगा। किंतु इस समय में विज्ञान की उन्नति में एक बहुत बाधा 'फ़्लोजिस्टनवाद' के रूप में पड़ी, जिसका उल्लेख ऑक्सिजन के अध्याय में किया जा चुका है।

इस फ़्लोजिस्टनवाद ने लगभग सवा सौ वर्ष तक रसायन की क्रमबद्ध उन्नति को रोके रक्खा। सन् १७७३ से १७७७ तक के समय में लवॉयसियर और प्रीस्टली ने इस फ़्लोजिस्टन का भंडाफोड़ कर डाला; और इन्हीं दोनों वैज्ञानिक वीरों के अनुसंधानों के बाद ही विज्ञान की क्रमबद्ध उन्नति हो चली।

ब्वॉयल के समय से आज तक संसार में बानवे मूलतत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध हो चुका है, जिनमें से नब्बे मूलतत्त्व विभिन्न पदार्थों से निकाले जा चुके हैं और उनके भौतिक और रासायनिक गुणों तथा उनकी उपयोगिता की परीक्षा भी हो चुकी है। इनमें से कई मूलतत्त्वों से हमारे प्राचीन रासायनिक भी परिचित थे, लेकिन उन्हें इनका मूलतत्त्व होना ज्ञात न था। नवान्वेषित मूलतत्त्वों में हाइड्रोजन, पोटैशियम, मैग्नेशियम, फ़ॉस्फ़ोरस ऐसे प्रज्वलनशील तथा मनोरंजक; हीलियम, नियन और आर्गन ऐसे निष्क्रिय; अलुमीनियम, क्रोमियम और प्लैटिनम ऐसे मोर्चा न लगने वाले; टंगस्टन और टैंटलम ऐसे ऊँचे द्रवांकवाले धातु; ऑक्सिजन, क्लोरीन और आयडीन ऐसे औषधोपयोगी; रेडियम, थोरियम और यूरेनियम ऐसे नवकिरणोत्पादक तथा दूसरे मूलतत्त्वों में परिवर्तित होते रहनेवाले; और सीरियम, लैंथनम और स्कैंडियम ऐसे विरल मूलतत्त्वों का आविष्कार हुआ है।

हमारी पृथ्वी में कौन मूलतत्त्व कितने परिमाण में है, इसका अध्ययन मनोरंजक है। वायु और जलमंडलों को साथ लेकर चौबीस मील गहराई तक का पार्थिव चिप्पड़ मुख्यतः (९९ प्रतिशत) केवल बारह मूलतत्त्वों से बना है। उसके भार का लगभग आधा तो ऑक्सिजन ही है
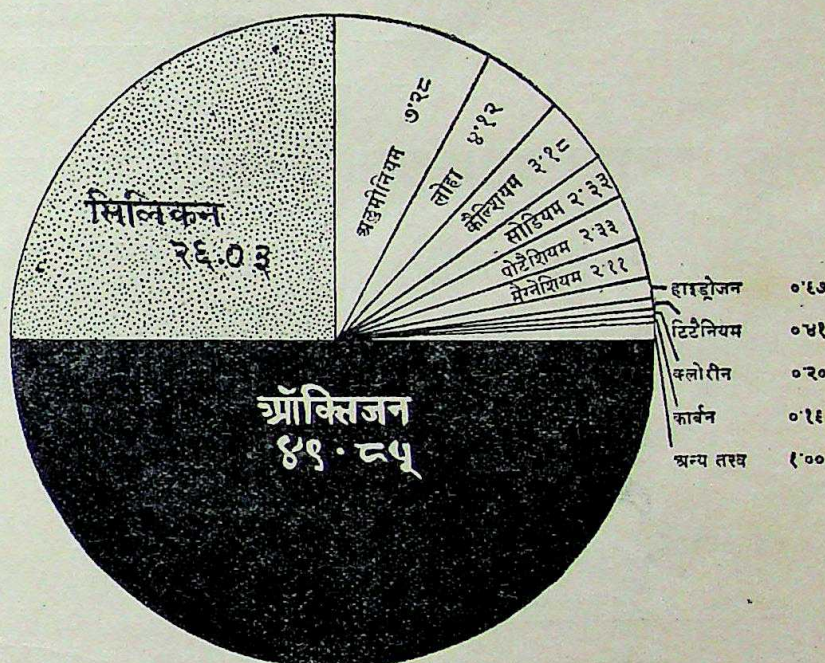
हमारी पृथ्वी में कौन तत्त्व कितने परिमाण में हैं?

ऊपर के मानचित्र द्वारा आपको पृथ्वी और उसके वायुमण्डल की रचना करनेवाले विभिन्न मूलतत्त्वों के परिमाण का अंदाज लग सकता है। प्रतिशत प्रत्येक तत्त्व कितना है, यह ऊपर प्रदर्शित किया गया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि पृथ्वी का निर्माण करनेवाले द्रव्य का लगभग आधा भाग ऑक्सिजन तत्त्व है और शेष में बाक़ी सब तत्त्व हैं।

और लगभग एक चौथाई सिलिकन है। शेष चौथाई भाग में दस मूलतत्त्व हैं। इन बारह मूलतत्त्वों के नाम और इनके प्रतिशतांक इस प्रकार हैं:—

ऑक्सिजन	...	...	४९·८५
सिलिकन	...	...	२६·०३
अलुमीनियम	...	...	७·२८
लोहा	...	...	४·१२
कैल्शियम	...	...	३·१८

सोडियम	२·३३
पोटैशियम	२·३३
मैग्नेशियम	२·११
हाइड्रोजन	०·६७
टिटैनियम	०·४१
क्लोरीन	०·२०
कार्बन	०·१६
	६६·००
शेष ८० मूलतत्त्व	१·००
	१००·००

एक मनोरंजक बात यह है कि यद्यपि कार्बन सारे जगत् में व्याप्त है, तथापि उसका अंश पृथ्वी की रचना में कितना कम है ! टिटैनियम नामक दुष्प्राप्य मूलतत्त्व का भी अंश कार्बन से अधिक है ! एक दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि पृथ्वी के चिप्पड़ में अलुमीनियम धातु का परिमाण लोहे से लगभग दुगुना है, यद्यपि, लोहे का उपयोग मनुष्य द्वारा अधिक होने के कारण, अलुमीनियम कम दिखाई देता है।

रसायन विज्ञान की उन्नति में योग देनेवाले दो वैज्ञानिक महापुरुष—
(बाईं ओर) लवॉयसियर और (दाहिनी ओर) प्रीस्टली
जिन्होंने 'फ्लोजिस्टनवाद' के भूत का भंडाफोड़ कर आधुनिक रसायन को मजबूत नींव पर स्थापित किया। ब्वॉयल को तरह इन दोनों वैज्ञानिकों का नाम भी रसायन विज्ञान के इतिहास में अमर रहेगा।

मूलतत्त्वों के गुणों के आधार पर वैज्ञानिकों ने उनका कई दृष्टियों से वर्गीकरण भी किया है। जो मूलतत्त्व प्रायः चमकदार, ठोस, आघातवर्धनीय, तांतव, भारी, गर्मी और बिजली के अच्छे संचालक, तथा ऑक्सिजन के संयोग से क्षारीय (जल से संयुक्त होकर क्षार में परिवर्त्तित होनेवाले) ऑक्साइडों के उत्पादक होते हैं, और घोल में जिनके 'आयन' (विद्युन्मय अणुभाग) घन विद्युत् से आविष्ट होते हैं, उन्हें धातु कहते हैं। ताँबा, चाँदी, सोना, सोडियम, पोटैशियम, पारा, लोहा, प्लैटिनम, आदि मूलतत्व सभी धातु हैं। जिन मूलतत्त्वों में उपर्युक्त भौतिक गुण प्रायः नहीं होते, जो ऑक्सिजन से संयुक्त होकर आम्लिक (जल से संयुक्त होकर अम्ल में परिणत होनेवाले) आक्साइडों में बदल जाते हैं और जिनके 'आयन' ऋण विद्युत् से आविष्ट होते हैं, उन्हें अधातु कहते हैं। कुछ मूलतत्त्वों के गुण धातुओं और अधातुओं के गुणों के बीच के होते हैं, और वे कभी धातुओं के और कभी अधातुओं के गुण प्रदर्शित करते हैं। ऐसे मूलतत्वों को उपधातु (metalloids) कहते हैं। आर्सेनिक और ऐंटिमनी मूलतत्त्व उपधातुओं के उदाहरण हैं। यह वर्गीकरण, वास्तव में, अस्पष्ट है ; कारण, यह आवश्यक नहीं कि किसी धातु अथवा अधातु में उसके उपर्युक्त सभी गुण मिलें। एक दूसरे वर्गीकरण में मूलतत्त्व भौतिक और रासायनिक गुणों के आधार पर कौटुंबिक वर्गों में विभक्त कर दिए गए हैं। इस विभाजन को आवर्त्त संविभाग (Periodic Classification) कहते हैं। यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसने सारे रसायन विज्ञान के रूप में उलटफेर कर दिया है, जिससे रसायन का अध्ययन भी बहुत सुगम हो गया है। इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

मनुष्य ने वैज्ञानिक युग के प्रथम ढाई सौ वर्षों में ही सृष्टि के बानवे मूलतत्त्वों में नब्बे का आविष्कार कर डाला है। यही नहीं, इन मूलतत्त्वों तथा उनके यौगिकों के निर्माण की विधियों तथा उनके गुणों को ढूँढ़ निकालकर उन्हें मानव-जीवन के विभिन्न विभागों में सलाभ प्रयुक्त भी किया है। कहाँ वे तीन सौ वर्ष पहलेवाले दार्शनिक पंचतत्त्व और कहाँ ये आजकल के नब्बे वैज्ञानिक मूलतत्त्व! कितना अंतर !! और मानव ज्ञान के प्रथम दो युगों की दीर्घता को देखते हुए कितने थोड़े समय में !!!

काल

सृष्टि-विषयक अनेक गूढ़ समस्याओं में काल की समस्या गूढ़ातिगूढ़ है। काल के रहस्य के आगे, क्या दार्शनिक और क्या वैज्ञानिक, सभी को हार मानना पड़ी है। इस अद्भुत काल की शक्ति अनंत है। काल ही की धुरी पर मानो यह जगत् अवलंबित है। छोटे-से-छोटे अणु-परमाणु से लेकर विराट् ब्रह्माण्ड तक सभी कुछ काल पर आश्रित है। इस काल की हम किस भाँति कल्पना करें? अमूर्त्त होकर भी यह चराचर जगत् में व्याप्त है। हम पग-पग पर इस अदम्य शक्ति के अस्तित्व का अनुभव करते हैं—काल से परे हम किसी भी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं कर पाते। फिर भी इसके रूप को पहचान पाने में हम असमर्थ हैं। हम सत्य की खोज में निकले हैं—एक अदम्य जिज्ञासा इस विश्व-प्रपंच का रहस्य जान लेने के लिए हमें विकल कर रही है। पर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, सत्य नये-नये भेष धारणकर हमें भुलावे में डालने लगता है। यही काल की समस्या के बारे में भी लागू है। मुश्किल तो यह है कि जिस वस्तु की खोज हम करने जा रहे हैं, उससे हम स्वयं ओत-प्रोत हैं। यहीं हमें अपनी पराधीनता, अपनी सीमाओं का भान होता है। यह अद्भुत, अज्ञेय, अनंत शक्तिशाली वस्तु काल क्या है? दार्शनिक इसके संबंध में क्या कहते हैं और विज्ञान इसकी कहाँ तक थाह लगा पाया है? आइए, इस लेख में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजें।

महाभारत (वनपर्व) में एक कथा है, जिसमें किसी यक्ष ने सरोवर में पानी पीने के लिए गये हुए युधिष्ठिर से कुछ गूढ़ धर्म और अध्यात्म के प्रश्न पूछे हैं। उनमें से एक प्रश्न यह है—

'हे युधिष्ठिर, बताओ, क्या ख़बर है?'

हमारे चारों ओर सदा इसी प्रश्न का ताँता लगा रहता है। जिससे मिलिए, जितनी बार मिलिए, यही प्रश्न सामने आता है—कहिए, क्या समाचार है?

का वार्ता?

यह प्रश्न बहुत-से उत्तर पाकर भी कभी संतुष्ट नहीं होता। कहने को तो संसार के सभी प्रपञ्च इस प्रश्न के उत्तर हैं, परन्तु युधिष्ठिर ने विचारपूर्वक इसका जो उत्तर दिया है वही एक सनातन उत्तर जान पड़ता है। युधिष्ठिर ने कहा—हे यक्ष, संसार-रूपी मोह का कड़ाह है, उसमें सब प्राणी पड़े हुए हैं। रात-दिन का ईंधन जलाकर, नीचे सूर्य की आँच लगाकर, महीने और ऋतुओं की करछुल से चलाकर काल हर समय उन प्राणियों को पका रहा है, बस यही एक ख़बर यहाँ है*। जैसा अजर अमर प्रश्न है, वैसा ही उसका उत्तर है—

भूतानि कालः पचतीति वार्ता।

काल क्या है?

सब प्राणियों को काल का अनुभव है। काल की सत्ता सब चराचर भूतों पर हावी है। कोई ऐसा नहीं जो काल के अधीन न हो। काल जीवन का कठोर सत्य है। काल की कृपा का नाम आयु है, काल का कोप मृत्यु है। संसार का आदि काल में है, संसार का अन्त भी काल है। काल से आगे-पीछे और कुछ नहीं बचता। काल सब भूतों को रचता है, काल ही उन्हें मार देता है। सोचकर देखें तो सूर्य और चन्द्र, धरती और आकाश, महासागर और

* अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन।
मासर्तु दर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
—वनपर्व ३१३।११८

महापर्वत, कौन-सी ऐसी वस्तु है जिस पर काल का अंकुश न हो ! अग्नि और वायु जैसे देव और प्रकृति की दूसरी सब विराट् शक्तियाँ, एक-एक करके सभी काल-चक्र के अधीन हैं। काल की इस महिमा को देखकर भृगु ऋषि ने पूर्वयुग में कालपरक एक गीत गायाः—

काल अजर है। काल की शक्ति अनंत है। काल सबको देखता है, वह सहस्र आँखोंवाला है। सभी काल के रथ पर बैठे हैं। ज्ञानी इस अश्व पर सवार रहते हैं। मूर्खों पर यह स्वयं सवार रहता है। सब लोक इस अद्भुत् रथ के पहियों के साथ घूमते हैं। इस रथ की धुरी में अमृत है, तभी तो वह कभी रुकने या छीजने का नाम नहीं लेता। काल लोकरूपी पहियों को औंगकर आगे ढकेलता है। काल पहला देव है। काल के सिर पर एक पूर्ण कुम्भ रक्खा है। यह घड़ा ज्योति से, आयु के जल से लबालब भरा हुआ है। यह घड़ा अनेक रूप धरता है। इस सूर्य-रूपी घट से ही चंचल बाल्यकाल, मनमोहक यौवन और शुष्क जरा के अनेक रूप देखने में आते हैं। वह काल सबसे ऊँचे लोक में है।

काल ने ही इन रीते भुवनों को जीवन से भर दिया है, काल ने ही रंग-बिरंगे जीवन को एक जगह इकट्ठा किया है। पिता-रूप में जो काल था, वही पुत्र-रूप में बन गया। काल से परे कुछ नहीं है। काल ने द्युलोक को बनाया, काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया। भूत और भविष्य की हलचल काल के आश्रित है। सबका होना काल के अधीन है। सूर्य का तपना काल के आधार पर है। काल सूर्य को छोड़ दे, तो सूर्य भी जीवन की सुध भूल जाता है। सब पदार्थ काल के बल पर टिके हैं। आँख जो रात-दिन देखती है, वह काल का ही पसारा है।

हमारा मन, प्राण और नाम सब काल के साथ टँका हुआ है। काल के वरदान को पास आया जानकर सब लोग आनन्द से नाच उठते हैं। तप और ब्रह्म-शक्ति काल में हैं। प्रजापति औरों के पिता हैं, प्रजापति का पिता काल है। काल सब पर ईश्वर है। काल ने ब्रह्माण्ड को प्रेरणा दी, काल से उसमें हलचल है और काल से ही उसे ठहराव मिलता है। काल ब्रह्म की शक्ति बनकर प्रजापति को सँभालता है। काल ने प्रजाओं को बनाया, और उनसे भी पहले प्रजापति को बनाया। स्वयम्भू कश्यप काल से बने और काल ने ही तप को पैदा किया।

जल, जो सबकी माता हैं, काल से उत्पन्न हुए। काल से दिशाएँ निकलीं। काल पाकर सूर्य आकाश में ऊँचे उठते हैं और काल की गति से फिर नीचे डूब जाते हैं। काल पाकर ही बड़ी-बड़ी आँधियाँ उठती हुई वायु-प्रदेश की सफ़ाई करती चली जाती हैं। काल के मंगल से पृथ्वी औषध-वनस्पतियों की बढ़ती को पाती है। काल की कृपा से द्युलोक मेघों को गर्भ में भरकर महान् बनाता है।

विधाता के मंत्र ने काल में पहले भूत और भविष्य को रचकर देख लिया। ऋक्, यजु और साम का त्रिविध चक्र काल से फैला। काल ने यज्ञ के सनातन ताने-बाने को फैलाया, उसी से सृष्टि के देवों को अक्षय भाग पहुँचता है। काल ने गन्धर्व और अप्सराओं के नाना भाँति के जोड़ों (चन्द्र-नक्षत्र, मन-इन्द्रिय आदि) को बनाया। काल पर ही सब लोक प्रतिष्ठित हुए। अथर्वा और अंगिरा (प्राण और मन) काल पर रुके हुए हैं। यह लोक और परलोक, सब पवित्र विधान, व्रत और मर्यादाएँ काल की कीली पर टिकी हुई हैं। काल सबको वश में रखता हुआ ब्रह्म की शक्ति से घूमता है। काल परम देव है।*

इन मंत्रों में काल से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है। काल की प्रकट और गुप्त अचिन्त्य महिमा को इतने ओजस्वी शब्दों में वर्णन करनेवाले ये शब्द विश्व के साहित्य में बेजोड़ हैं। यहाँ कहा है कि स्थिति और गति दोनों काल के आश्रित हैं। सब प्राणियों की रचना में काल ने प्रमुख भाग लिया है। देश के साथ जब तक काल न मिले तब तक सृष्टि का पूरा चौखटा नहीं बनता। सापेक्ष्यतावादी दार्शनिक देश-काल के सम्मिलन (Four-dimensional Space) को बहुत सच्चे अर्थों में सृष्टि का कारण मानते हैं। देश स्थिति है, काल उसको धक्का या गति देता है। संसार शब्द का अर्थ ही है 'जो चले।' संसार का **संसारपना** काल के अधीन है। 'जगत्' का भी शब्दार्थ वही है। गच्छति इति जगत्; जो जाता है वह जगत् है। काल के बिना जाना हो नहीं सकता। एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर वस्तु का हट जाना, यह गमन क्रिया है। घड़ी की सुई एक अंक से हटकर दूसरे अंक पर चली जाती है। इसी का नाम काल है। सुई की प्रगति का कारण काल है। काल प्रगति का फल नहीं, उसका बीज कारण है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि घड़ी की सुई एक जगह से दूसरी जगह हट गई, इसका फल क्षण, मुहूर्त और घंटे हैं। बात असल यह है कि काल है नहीं घड़ी की गति का बीज है। काल फल

* अथर्ववेद कांड १९। सूक्त ५३—५४।

नहीं है, स्वयं बीज है, निर्माता है, पिता है। घड़ी तो मनुष्य की कल्पना का कल-पुर्ज़ा है, उसे मनुष्य की चाभी चाहिए, तब सुइयों में प्रगति आती है। पर प्रकृति की घड़ी हमारे सामने है। उसकी चाभी में अमृत है। वहाँ न गति की बाधा है, न रोक है। सूर्य नक्षत्र और पृथ्वी, स्थिर कोई नहीं है। सब **जगत्** के अन्तर्गत हैं। सबमें 'गम्लृ गतौ' धातु के रूप समाये हुए हैं। इनको धक्का देनेवाली शक्ति कौन है? यह प्रेरक शक्ति (dynamic force) काल है। काल पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर घुमाकर हमारे सामने रात-दिन, महीने, ऋतु और संवत्सर की कल्पना करता है। पृथ्वी का घूमना घड़ी की सुई की तरह स्थान बदलना है। इसके पीछे चाभी भरनेवाली अमर शक्ति काल है। सारे ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं जो काल के सामने आकर पैर अड़ा सके। दूर-से-दूर तक के नक्षत्र और नीहारिकाएँ सभी काल की प्रेरणा से धीरे-धीरे अपनी कुंडली खोलते चले जा रहे हैं। छोटे-से-छोटे परमाणु भी प्रगति के शासन में हैं। अरबों बरस भले ही लगें, पर रेडियम के परमाणुओं का तेज छीनकर उन्हें सीसा बना देने की शक्ति काल ने अपने हाथ में रक्खी है। वैज्ञानिक बताते हैं कि दो अरब बरसों में हिरण्यमय पदार्थों (radio-active substances) के परमाणुओं का विशकलन होते-होते यह दशा हुई है। यह प्रक्रिया काल की नाप की एक प्राकृतिक घड़ी मात्र है। असल बात तो काल की अप्रतिहत शक्ति है। अणु और महत् दोनों में वह व्याप्त है।

मूर्त-अमूर्त काल

जो काल इतना बलवान् है, क्या वही सृष्टि का कारण नहीं है? इस प्रश्न पर भारतवर्ष ने अपनी निजी दृष्टि से विचार किया है। एक काल वह है जो लव-निमेष-युग के रूप में हमारे अनुभव में आता है। यह काल का मूर्त रूप है। घड़ी की सुई से बननेवाले मिनिट और घण्टों की तरह मूर्त काल प्रगति का फल है। इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है वह अमूर्त या अव्यक्त काल है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस बात की खोज करते हुए कि सृष्टि का कारण क्या है, काल को एक कारण कहा गया है। पर यह पूर्वपक्ष है। सृष्टि का असली कारण तो ब्रह्म की अचिंत्य शक्ति है। काल का जो मूर्त या व्यक्त रूप है वह सृष्टि की प्रेरणा करता हुआ भी उसका आदि मूल कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जो काल [illegible] का ही दूसरा नाम है, जो सब देवों और सब भूतों से पीछे है, वही अव्यक्त अमूर्त शक्ति सृष्टि का बीज है। इसी काल को लक्ष्य करते हुए अथर्ववेद में काल को परम देव कहा गया है।

भारतीय दार्शनिक परिभाषा में काल और ब्रह्म पर्याय-वाची हो जाते हैं। हमारे 'सहस्रनाम' ग्रन्थों में सब देवों के निरपेक्ष स्वरूप का एक नाम काल भी पाया जाता है।

अमूर्त काल के व्यक्त अवयव सूर्य के द्वारा जाने जाते हैं। अतएव लवनिमेश से युगपर्यन्त काल सूर्य से गृहीत है। यह काल का शुक्ल या प्रकट पक्ष है। काल का जो एकरस रूप है उसमें मास, ऋतु और संवत्सर के विराम-चिह्न कहीं देखने में नहीं आते। हमारी आँखों के सामने काल का जो प्रवाह है, उसमें कहीं पर कोई पक्का निशान पड़ा हुआ नहीं मालूम पड़ता। काल के हिसाब-किताब की कल्पना अमूर्त काल की दृष्टि से माया है। अव्यक्त काल को मूर्त काल की तुलना में **कृष्ण** कहा गया है। सूर्य का दूसरा नाम गरुत्मा सुपर्ण या गरुड़ है। सूर्य खगेन्द्र है। खे आकाशे गच्छति खगः; आकाश में जो विचरण करे वह खग है। नक्षत्र और ग्रह 'खग' हैं इनमें सूर्य खगेन्द्र या पक्षिराट् है। सूर्य मूर्त काल का प्रतीक है। उसका उलटा जो एकरस काल है वह कृष्ण रूप होने से कागभुशुंडि कहा गया है। गरुड़ कल्पान्त तक रहते हैं। जब तक विष्णु की सृष्टि है तभी तक गरुड़ हैं। कागभुशुंडि अमर हैं, मृत्यु उनका स्पर्श नहीं करती।

अहोरात्रवाद

काल के ऊपर कहे दो स्वरूपों की दार्शनिक छान-बीन का प्राचीन नाम अहोरात्रवाद है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से पहले की अप्रतर्क्य दशा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उस समय रात और दिन का बिलगाव नहीं था—

न राव्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

सृष्टि के होते ही प्रलय की कल्पना होती है। रात और दिन एक जोड़ा है। इसी के बहुत से नाम हैं। यह जगत् द्विधा-बद्ध है। दिन सृष्टि है, रात प्रलय है। दिन प्रकाश या ज्योति, रात अन्धकार या तम है। दिन शुक्लभाव है, रात कृष्ण-भाव। दिन स्थिति है, रात विघटन या चरभाव है। दिन का नाम सत्य और रात का नाम ऋत है। दिन द्युलोक है, दिन के साथ देवों का सम्बन्ध है। रात पृथ्वी है, उसके साथ आसुरी शक्ति का सम्बन्ध है। असुरों की सत्ता रात में बढ़ती है। दिन ज्ञान और रात अज्ञान है। ब्रह्माण्ड में जब तक सूर्य की तरह के संचित शक्ति-केन्द्र हैं, तब तक सृष्टि या काल है। जब शक्ति के अधःप्रवाह से संचित

केन्द्र विलीन हो जायँगे अर्थात् शक्ति एकरस होकर सर्वत्र समान रूप से फैल जायगी, तभी सृष्टि का अन्त होगा, वही कृष्ण काल था प्रलय है। विज्ञान की परिभाषा में शक्ति के इस बराबर बह जाने को, ऊँचे केन्द्र से नीचे की ओर बँट जाने को ताप-प्रगति का दूसरा नियम (Second Law of Thermo-dynamics) कहा जाता है।

कालं कालेन पीड़यन्

यहाँ एक दार्शनिक उलझन पैदा होती है। यदि शक्ति के ऊर्ध्व केन्द्र इसी तरह बिखरते रहेंगे तो प्रलय अवश्यम्भावी है। उस प्रलय के बाद फिर सृष्टि कैसे होगी? वैज्ञानिकों का कहना है कि अब तक का जो हमारा अनुभव है उससे यह तो मालूम होता है कि शक्ति बट रही है। पर कहीं भी उपरोक्त दूसरे नियम की उल्टी प्रक्रिया देखने में नहीं आती। अर्थात् ब्रह्मांड में बराबर फैली हुई शक्ति में नये संचित शक्तिकेन्द्र पैदा होते नहीं देखे जाते। जो जल एक समान धरातल पर फैल गया है, उसे फिर ऊँचा उठाने के लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता होती है। कुछ वैज्ञानिक इस बाह्य कारण को ईश्वर के रूप में मान लेते हैं।

ऋषियों के अनुसार काल की प्रगति एक चक्र के समान है। चक्रगति का नाम ही Law of Periodicity है। मनु ने इसे यों कहा है कि काल ही काल पर दबाव डालकर प्रलय के बाद सृष्टि करता है। घड़ी की जो चाबी ख़त्म हो गई है, उसके कूकने का प्रबन्ध भी साथ-ही-साथ है। इसी का उदाहरण सोना और जागना है। सोने के बाद जागना उसी प्रक्रिया का फल है। प्रलय में पुनः शक्ति का संचय (evolution of energy-centres) यही तप है। किसी अचिन्त्य शक्ति के तप से ही भारतीय ऋषि सृष्टि का विकास स्वीकार करते हैं।

लोमश

अर्वाचीन भूगर्भशास्त्र और रेडियम के विज्ञान ने हमारी काल सम्बन्धी कल्पना को विस्तृत बना दिया है। वैज्ञानिकों की दृष्टि से पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष है। आर्यों के संकल्प में दिया हुआ सृष्टि-संवत्सर भी क़रीब इतना ही है। हमारा संकल्प देश और काल का सूत्र रूप से परिचय देता है। मनुष्य देश और काल की संधि के किसी बिन्दु पर खड़े होकर किसी कार्य को करने का संकल्प करता है। हमारे प्रचलित संकल्प-मंत्र में ये पाँच विषय रहते हैं—किस देश में, किस काल में, कौन व्यक्ति, किस काम को, किस उद्देश्य से करना चाहता है। यही संकल्प का पाठ है। काल की गणना को आर्यों ने एक शास्त्र का रूप दे दिया था। मानुष, पित्र्य, दैव और ब्राह्म चार प्रकार के दिन-रात की कल्पना की गई है। महर्षि वार्कलि ने काल की माप का यह पहाड़ा स्थिर किया था—

१५ स्वेदायन	=	१ लोमगर्त
१५ लोमगर्त	=	१ निमेष
१५ निमेष	=	१ अन
१५ अन	=	१ प्राण
१५ प्राण	=	१ इदम्
१५ इदम्	=	१ एतर्हि
१५ एतर्हि	=	१ क्षिप्र
१५ क्षिप्र	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र

इसके आगे पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प के परिमाण हैं। काल के इन भेदों का अनन्त काल के साथ जो सम्बन्ध है उसे पुराणकारों ने लोमश ऋषि की कल्पना से प्रकट किया है।

एक सृष्टि ब्रह्मा का दिन और एक प्रलय ब्रह्मा की रात है। ऐसे रात-दिनों को जोड़कर जब सौ वर्ष पूरे होते हैं तब ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाती है। लोमश ब्रह्मा के पुत्र हैं। ब्रह्मा की एक आयु लोमश की आयु का एक दिन समझा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोमश को प्रतिदिन अपने पिता का अन्त्य श्राद्ध करना पड़ता है। इसके लिए लोमश सारे सिर का क्षौर न कराकर अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। अर्थात् लोमश के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु के बराबर काल की सत्ता समाई हुई है। लोमश का नाम ही यह प्रकट करता है कि उनके रोम-रोम में काल का यह अनन्त परिमाण भरा हुआ है। लोमश की देह के रोएँ कौन गिन सकता है?

लोमश की आयु में कितने सर्ग और प्रलय पार उतर जाते हैं, इसकी कल्पना भी गणित के अंकों द्वारा हमारे मन को नहीं हो सकती। अनन्त काल की नाप करने में भी कौन समर्थ हो सका है? दोनों की कल्पना से बुद्धि चकराने लगती है। मेटरलिंक के शब्दों में काल और देश, जीवन और चैतन्य, अनन्तता और नित्यता—ये अगम्य और अचिन्त्य रहस्य हैं।

---

*'......unfathomable mysteries, such as life, being, infinity, eternity, time, space and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exists.'

—*The Supreme Law*, p. 152

पृथ्वी की कहानी
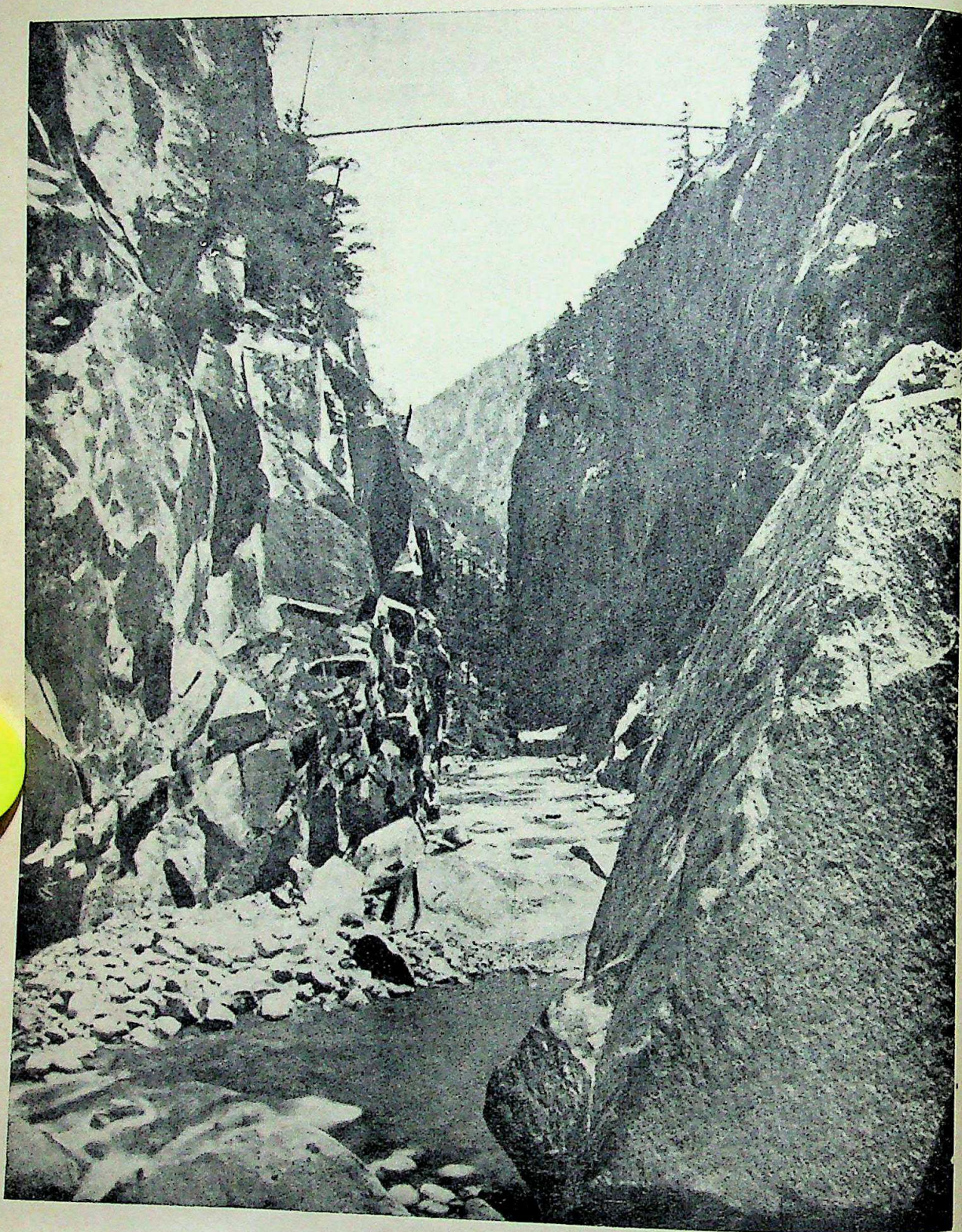
जलधारा द्वारा स्थल का क्षय

इस चित्र में हिमालय की चट्टानों को अपने प्रवाह-वेग से काटते, घिसते और चूर्ण-विचूर्ण करते हुए नीचे उतरती हुई गंगा नदी का दृश्य है। इससे हम जान सकते हैं कि किस प्रकार जलधारा अपने प्रवाह-वेग से मार्ग को गहरा और विस्तीर्ण बनाती जाती है और बड़े-बड़े शिलाखण्डों को आपस में रगड़कर क्रमशः कंकड़-पत्थर और बालू में परिणत कर बहा ले जाती हैं।

जलधारा द्वारा स्थल का क्षय

पृथ्वी के रूप-परिवर्त्तन में जल का प्रमुख हाथ है, यह हम पिछले एक लेख में बतला चुके हैं। आइए, इस लेख में देखें कि किस प्रकार बहता हुआ पानी पृथ्वी के स्थल-भाग का निरन्तर क्षय करता हुआ धरातल का परिवर्त्तन करता रहता है।

बहते हुए पानी की क्रिया मौसमी कार्यकर्त्ताओं की क्रिया के साथ-साथ निरन्तर होती रहती है। एक ओर तो बहता हुआ पानी विखण्डित और जीर्ण-शीर्ण चट्टानों को बहा ले जाकर, उन्हें धारा के वेग से आपस में टकराकर और रगड़कर तथा अपनी थपेड़ों की आघात-प्रतिघात की शक्ति से उन्हें चूर्ण-विचूर्ण करके, चट्टानों का क्षय करता है। साथ ही अपनी धारा की प्रबल प्रवाह-शक्ति से उन चट्टानों को भी घिसता और रगड़ता है, जिन पर होकर वह बहता है। घिसने और रगड़ने की क्रिया जल-धारा की तलहटी और कगारों दोनों में ही निरन्तर होती है। जलधारा के प्रवाह-वेग से मार्ग की चट्टानें और धरती क्षय होकर विलीन होती जाती है और जलधारा अपना मार्ग गहरा और विस्तीर्ण बनाती जाती है। इस प्रकार जल-प्रवाह की शक्ति से घाटियाँ और गर्त बनते हैं।

मौसमी कार्यकर्त्ताओं द्वारा क्षत-विक्षत चट्टानों के खण्ड वर्षा-जल के वेग से धारा के प्रवाह में पड़कर चकनाचूर हो जाते हैं। जल की नैसर्गिक शक्ति ही इतनी प्रबल होती है कि बड़े-बड़े ढोंके उसमें पड़कर शीघ्र ही नष्ट और विलीन हो जाते हैं। चट्टानों का क्षय तीन प्रकार से होता है। प्रथम तो आपस की रगड़ और घर्षण के परिणामस्वरूप क्षय होता है। चक्की के दो पाटों के बीच में पड़कर जैसे दाना आटा बन जाता है, उसी प्रकार वेग से बहनेवाली जल की धारा में बहते हुए दो विशाल शिलाखण्ड आपस में टक-राते और रगड़ते हुए, जल की थपेड़ों से उत्तेजित होकर एक-दूसरे को पीस डालते हैं और खण्ड-विखण्ड होकर जल में बह जाते हैं। छोटे-छोटे शिलाखण्ड विशाल चट्टानों के नीचे पिसकर बालू हो जाते हैं। तुरंत के टूटे हुए शिलाखण्डों के किनारे बड़े पैने और धारवाले होते हैं। इसलिए वे जब जलधारा के वेग से बहते हैं, तो किनारों और तलहटी की चट्टानों और धरती पर बढ़ई के रन्दे की भाँति खुरचने का काम करते हैं। पैनी और तीक्ष्ण धारवाले शिलाखण्ड आपस में टकराते, रगड़ते तथा तलहटी की चट्टानों को खुरचते हुए और कगारों को चोट पहुँचाते हुए जल की धारा के वेग से बराबर आगे बढ़ते रहते हैं। जैसे-जैसे ये आगे बढ़ते हैं, इनका आकार गोल-मटोल, चिकना और छोटा होता जाता है। अन्त में नष्ट-भ्रष्ट होते-होते ये बालुकणों में परिणत हो जाते हैं। रोड़े और बजरी इनका ही बालुकण बनने से पहले का रूप है।

चट्टानों के जल में घुलने की क्रिया का हाल हम पहले बता चुके हैं। जलधारा के प्रभाव से वे ही चट्टानें घुलती हैं, जिन पर होकर जल बहता है। चूना पत्थर की चट्टानें जलधारा के प्रभाव से शीघ्र ही घुलकर विलीन हो जाती हैं। जैसे-जैसे चट्टान घुलकर जलधारा में मिलती जाती है, नीचे के नये पर्त्त जलधारा के संसर्ग में आते हैं और वे भी कालान्तर में जल में घुलकर बह जाते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि जल में घुलने की क्रिया के साथ घर्षण की क्रिया भी होती रहती है। इस प्रकार की चट्टानों पर दोहरी मार पड़ती है और वे शीघ्र ही रास्ता छोड़कर जल-धारा के मार्ग को गहरा कर देती हैं।

बहते पानी की धाराओं द्वारा चट्टानों को काटने, पीसने, घिसने और रगड़ने से जो छीलन आदि बनती है, उसको

जलधारा कभी स्थिर नहीं रहने देती। धारा की तरंगों की चपेट से वह निरन्तर जलमग्न होती रहती है और धारा-प्रवाह में पड़कर धारा के साथ-साथ आगे बढ़ती रहती है। यह धारा की 'स्थानान्तरित' करने की क्रिया कहलाती है। स्थानान्तरित छीलन मार्ग के उन स्थानों में रुकती है जहाँ धारा का वेग कम हो जाता है। ये या तो निचले मैदान होते हैं अथवा नदी के संगम। स्थानान्तरित पदार्थ कुछ तो जल के वेग से बहते हैं और कुछ जल में घुले होने के कारण। वर्षा ऋतु में नदियों में बहुधा अत्यधिक बालू, मिट्टी और कीचड़ बहकर आती है। इसीलिए पानी गंदा और मटमैला रहता है। जल का वेग कम हो जाने से ये पदार्थ तलहटी और किनारों पर महीन चिकनी तहों के रूप में बैठ जाते हैं और पानी स्वच्छ हो जाता है। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि जलधारा के वेग के अनुसार उसमें छीलन आदि पदार्थ बहते हैं।

स्थानान्तरित करने की शक्ति प्रधानतः जलधारा के स्वभाव पर निर्भर करती है। धारा का बहाव सदैव समान और नियमित नहीं रहता है। मध्य भाग किनारों की अपेक्षा अधिक वेग से बहता है और ऊपर का भाग तलहटी के भाग से आगे रहता है। धारा के स्थान-स्थान पर मुड़ जाने और नीची-ऊँची भूमि पर बहने से धारा में 'भँवर' और लहरों का विकास होता है। धारा की उत्ताल तरंगों और भँवरों के कारण भी चट्टानों के जीर्ण-शीर्ण अंश पानी में उठकर नाचते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार के स्थानान्तरित अंश हल्के और छोटे होते हैं। भारी और बड़े टुकड़े नीचे तलहटी में ही लुढ़कते रह जाते हैं और धीरे-धीरे आगे बढ़ पाते हैं। पहाड़ी देशों की जलधारा में उद्गम के निकट विशाल शिलाखण्ड धारा की थोड़ी गहराई में भी बड़े वेग से आगे बहते हैं। धारा के संगम तक पहुँचते-पहुँचते ये विशाल शिलाखण्ड बालू और मिट्टी में परिणत हो जाते हैं।

बहते पानी की चट्टान काटने, छीलने और घिसने तथा बहाने की शक्ति धारा के आकार (आयतन) और उसके वेग पर निर्भर होती है। धारा का वेग चट्टानों अथवा भूमि के ढाल, पानी की मात्रा, धारा की चौड़ाई तथा उसमें बहनेवाले बोझ के अनुसार होता है। ढाल की गहराई के साथ धारा का वेग भी बढ़ता है। ढलवाँ पहाड़ियों में बहनेवाली जलधाराएँ बड़े वेग से बहती हैं और उनकी शक्ति भी महान् होती है। मैदानों में धाराएँ धीरे-धीरे बहती हैं और उनका भूतत्त्विक महत्त्व कम होता है।

धारा में जल की मात्रा धारा के उद्गम और आसपास के प्रवाहक्षेत्र में होनेवाली वर्षा के ऊपर निर्भर करती है। इसी कारण धारा का वेग और धारा की काटने-छाँटने की शक्ति सदैव बदलती रहती है। यद्यपि यह अन्तर प्रायः क्षुद्र-सा होता है तथापि कहीं-कहीं धारा किसी समय बिल्कुल सूख जाती है और किसी समय उसमें बाढ़ आ जाती है। गंगाजी का जल वर्षा ऋतु में ३२ फ़ीट तक अधिक ऊँचा हो जाता है। मिसीसिपी नदी के जल में प्रति वर्ष लगभग १२-२० फ़ीट बाढ़ आती है।

धारा का पाट यदि कम चौड़ा होता है तो जल की क्रियाशीलता अधिक होती है। चौड़े पाट की धारा में जल-शक्ति मन्द पड़ जाती है।

स्वच्छ जल में काँटने-छाँटने आदि की शक्ति बिल्कुल नहीं होती, परन्तु इसमें चट्टानें आसानी से घुल जाती हैं।

जलधारा अपना मार्ग विविध रूप से बनाती है और फिर धीरे-धीरे काट-काटकर उसे गहरा कर देती है। धारा की शक्ति के अनुरूप ही उसका मार्ग और घाटी बनते हैं। निरन्तर एक ही वेग से प्रवाहित होनेवाली धारा की अपेक्षा उस धारा की मार्ग बनाने की शक्ति अधिक होती है जिसमें कभी हहराती बाढ़ आती है और कभी जल का अभाव हो जाता है। यद्यपि धाराएँ अपना मार्ग स्वयं खोज निकालती हैं, तथापि बने-बनाये मार्ग अथवा सुगम पथ की ओर वे पहले आकर्षित होती हैं। चट्टानों की दरारों अथवा फटी चट्टानों के गर्त में धाराएँ शीघ्र ही घुस जाती हैं और उन्हें चौड़ा कर डालती हैं।

तीव्र वेगवती धारा के जल और उसमें बहनेवाले बोझे की रगड़ से धारा की तलहटी बहुत शीघ्र घिस जाती है और धारा का मार्ग अधिक गहरा होता जाता है। धारा का वेग जितना ही अधिक होता है, तलहटी की भूमि उतनी ही तीव्रता से क्षीण होती है। तलहटी और कगारों के काटने, छाँटने और घिसने से धारा का मार्ग अधिक गहरा होता है और पहाड़ी प्रदेश में घाटी का रूप धारण कर लेता है। मैदान में धारा चादर की भाँति फैल जाती है, परन्तु पर्वतों के बीच में धारा घाटी को और अधिक गहरी करती हुई नीचे बहती जाती है।

धारा के मार्ग में यदि धारा ऊँची भूमि से एकाएक किसी गर्त में गिरती है तो प्रपात बन जाता है। प्रपात धारा के उद्गम की ओर हटता रहता है। प्रपात के पीछे हटने से धारा जिस गर्त में गिरती है, उसकी लंबान बढ़ती है। कालान्तर में यह गर्त लम्बी और गहरी घाटी के रूप

में परिणत हो जाता है। प्रपात के ऊपर की चट्टानों अथवा नीचे की चट्टानों के नष्ट होने से ही प्रपात पीछे खिसकता है। यदि जिस चट्टान पर प्रपात का जल ऊपर से नीचे गिरता है, वह कड़ी होती है और ऊपर की चट्टान मुलायम अथवा भुरभुरी, तो धारा की तलहटी का मार्ग शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा घिस जाता है। ठीक उस स्थल की चट्टानों के घिसने और क्षय होने से, जहाँ से जल गर्त में गिरता है, प्रपात के गिरने का स्थान भी पीछे हटता है। इस प्रकार पीछे हटता हुआ प्रपात अपने मार्ग में गहरा आखात छोड़ता जाता है, जिसमें बहती हुई धारा आसपास की चट्टानों से छिपी हुई गहरी घाटी में बहती ज्ञात होती है।

यदि प्रपात के ऊपर की चट्टानें कठोर होती हैं और नीचे की नरम, तो नीचे की चट्टानें चूर होकर, घुलकर, घिसकर अथवा जलवेग के आघात से नष्ट होकर विलीन हो जाती हैं और ऊपर की कड़ी चट्टान लटकी हुई रह जाती है। अधिक भारी होने से अथवा कोई झटका खाने से ये लटकी हुई चट्टानें गिर पड़ती हैं और प्रपात का जल थोड़ा पीछे हट जाता है।

पहली दशा में घाटी बनाता हुआ प्रपात धीरे-धीरे विलुप्त हो जाता है, परन्तु दूसरी अवस्था में प्रपात बना रहता है और धारा के आरपार आरी की भाँति काटता हुआ, घाटी बनाता धीरे-धीरे पीछे हटता है।

धारा के जल में चक्र और भँवर उत्पन्न होने से भी धारा की तलहटी गहरी होती है। भँवर में घूमनेवाले जल के वेग से तलहटी के पत्थर और रोड़े भी बड़ी तीव्रता से घूमते हैं। भँवर का वेग जितना ही तीव्र होता है, जलमग्न पत्थर और रोड़ों की शक्ति उतनी ही बढ़ती है। तेज़ी से नाचते हुए भँवर के कारण रोड़े और पत्थर बढ़ई के बर्मा की भाँति धारा की तलहटी में गहरे गोल गड्ढे करते हैं। इनको 'भँवर गर्त' कह सकते हैं, परन्तु इनका आकार बिल्कुल पेंदीदार बर्त्तन का-सा होने के कारण इन्हें अँगरेज़ी में 'पॉट होल' (Pot Hole) कहा जाता है। यदि बहुत से गर्त्त पास-पास हो जाते हैं तो उनकी सीमा मिल जाने से तलहटी की गहराई बढ़ जाती है और धारा नीचे उतरती जाती है। पीछे हटनेवाले प्रपात के नीचे इस प्रकार के भँवर-गर्त असंख्य उत्पन्न होते हैं और धारा को नीचा करने में सहायक होते हैं।

जलधारा बराबर अपनी तलहटी को घिसती और काटती जाती है। परन्तु इस गहराई की सीमा निश्चित है। अधिक-से-अधिक जिस गहराई तक धारा अपनी तलहटी को काट सकती है वह 'आधार-तल' कहलाता है। 'आधार-तल' और 'सागर-तल' सदैव समतल होते हैं; क्योंकि सागर-तल के समीप पहुँचकर धारा अपनी तलहटी को गहरा करना छोड़ देती है। इसलिए आरम्भ से लेकर संगम तक धारा अपने मार्ग की तलहटी को उस समय तक बराबर गहरा किए जायगी, जब तक धारा की तलहटी 'आधार-तल' के बराबर न हो जाय। आरम्भ में धारा समुद्र-तल से जितने ऊँचे प्रदेशों पर बहती है, कालान्तर में वह उतनी ही गहरी घाटी बनाती है। जब तलहटी और सागर-तल बराबर हो जाते हैं, तब घाटी का गहरा होना भी बन्द हो जाता है। यदि धारा का संगम सागर से न होकर किसी झील में होता है तो 'आधार-तल' झील के तल के समान होता है। परन्तु यह आधार-तल स्थानीय और अस्थाई होता है; क्योंकि झील का जल जब सागर-तल से अधिक ऊँचा होगा तो वह सागर की ओर बह निकलेगा और तब तक बहता रहेगा जब तक झील और सागर समतल न हो जाएँ।

स्थानान्तरित करना जलधारा का सबसे महत्वपूर्ण भूतत्त्विक कार्य है। जलधारा अपनी क्रियाओं तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं से उत्पन्न शिलाखण्डों की छीलन और चूरचार को बहा ले जाती है। स्थल की इस चूरचार को सागर तक पहुँचाने का इसके अतिरिक्त और कोई उत्तम साधन नहीं है। धारा के साथ कुछ पदार्थ तो जल में घुला रहता है और कुछ जल में बूड़ा हुआ। भारी-भारी खण्ड तलहटी में धारा के वेग से खिसकते हैं।

जलधारा के वेग और बोझा ढोने की शक्ति में छठे घात (Sixth Power) का अनुपात है। इसके अनुसार यदि किसी नदी का वेग दूना हो जाय तो उसकी बोझा ढोने की शक्ति २^६ (२×२×२×२×२×२)=६४ गुना हो जावेगी। और वह पहले की अपेक्षा ६४ गुना भार सहन कर सकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि धारा का वेग तनिक भी बढ़ जाने से वह अधिक भार बहा ले जावेगी। और तनिक भी कम हो जाने से अपने भार को तुरन्त पटक देगी। अमरीका की मिसीसिपी नदी का वेग निरंतर अस्थिर रहता है—कभी घटता है, कभी बढ़ता है। इसी कारण वह कभी अपने मार्ग को काटती, किनारों को नष्ट करती चलती है; कभी किनारों पर बोझा पटकते-पटकते उन्हें ऊँचा कर देती है। कभी तलहटी में द्वीप बनाती और कभी उन्हें बहाती चलती है।

जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसमें पड़ी हुई

वस्तु उछलती है। जल की इस "उछलने की शक्ति" (buoyancy) का बहनेवाले पदार्थ पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जल में पड़ने से पदार्थ हल्का हो जाता है। शिलाखण्डों के आकार का भी प्रभाव पड़ता है। गोल-मटोल कंकड़-पत्थर तलहटी में बड़ी सुगमता से लुढ़कते चलते हैं। चिपटे और लम्बे पतले खण्ड धाराओं में शीघ्रता से बह जाते हैं।

जलधारा का वेग बढ़ने से उसकी जो शक्ति बढ़ती है उसी के परिणामस्वरूप नदियों में बाढ़ आने पर बाढ़वाले प्रदेश प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। बाढ़ लगभग सभी नदियों में आती है। परन्तु जिनका वेग अधिक होता है उनकी बाढ़ प्रलयंकारी होती है। बाढ़ के समय में नदियों में इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि साधारण बाँध आदि तो विलीन हो ही जाते हैं साथ ही इस्पात के दानवीय पुल भी ऐसे तोड़े-मरोड़े जाते हैं जैसे बच्चे तिनकों के मुट्ठों को मरोड़ डालते हैं। भारी रेल की पटरियाँ कभी-कभी ऐंठी हुई रस्सी की तरह मरोड़ दी जाती हैं। मकान और वृक्ष भुनगों की तरह पिस जाते हैं। हमारे पाठक ऐसी बाढ़ों से अपरिचित नहीं हैं। ब्रह्मपुत्र, गंगा आदि में प्रायः ऐसी प्रलयंकारी बाढ़ आती हैं।

साधारण नदी अपने प्रवाहक्षेत्र को प्रतिवर्ष एक फ़ुट का चार हज़ारवाँ भाग घिसती है। इससे समस्त स्थल-भाग ४००० वर्ष में १ फ़ुट नीचा हो रहा है। भूमण्डल के स्थल-प्रदेश की औसत ऊँचाई २५०० फ़ुट है। इसलिए यदि नदियों के काम में बाधा न पड़े तो वे समस्त स्थलमण्डल को १ करोड़ वर्ष में पूरा घिसकर समुद्र में डुबा दें।

धारा के मार्ग के ढाल, प्रवाह-प्रदेश की वर्षा की मात्रा तथा नदी के वेग के अनुसार ही नदी बोझा ले जाती है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा बहाया हुआ पदार्थ मिसीसिपी नदी द्वारा बहा लाये गए पदार्थ की अपेक्षा पाँच गुने से भी अधिक होता है। ब्रह्मपुत्र और गंगा प्रतिवर्ष लगभग ४०,०००,०००,००० घनफ़ुट ठोस पदार्थ बहाकर लाती है। चीन की नदियाँ इतना अधिक ठोस पदार्थ प्रतिवर्ष बहाकर लाती है कि पीला सागर इस पदार्थ से बदरंग हो जाता है। अमेज़न नदी द्वारा जितना बोझा समुद्र में पहुँचता है वह भी आश्चर्यजनक है।

पर्वतीय प्रदेश पीछे छूट जाने पर नदी का वेग कम हो जाता है। बोझा ढोने की शक्ति तो कहीं और भी कम हो जाती है। इसलिए नदी के मध्यवर्ती मार्ग में केवल रेत या मिट्टी के कण ही पानी के साथ आगे बढ़ते हैं। वेग तो ढाल के अनुसार होता है। इसलिए ढाल न होने से पानी का तेज़ी से बहना भी बन्द हो जाता है। मध्यवर्ती मार्ग में ढाल कम होने से नदी टेढ़ी चाल से धीरे-धीरे बहती है, और जहाँ-तहाँ कछार छोड़ती जाती है। बाढ़ के दिनों में काँप और भी दूर तक फैल जाती है। समुद्र के पास पहुँचकर नदी का जल शान्त-सा हो जाता है। यदि समुद्र में ज्वार-भाटा न हुआ तो कछारी मिट्टी नीचे बैठ जाती है। लगातार नई मिट्टी के आने से नदी के मुहाने पर मिट्टी का ढेर ऊँचा हो जाता है, जिससे नदी के मार्ग में बाधा पड़ती है और नदी दो धाराओं में बँट जाती है। इन दोनों धाराओं के बीच में त्रिभुजाकार भूमि निकल आती है। इसको डेल्टा कहते हैं। प्रतिवर्ष यह डेल्टा बढ़ता ही रहता है।

जिन नदियों के मुहाने पर प्रबल ज्वार-भाटा आता है अथवा समुद्री धारा चला करती है वहाँ नदियों की लाई हुई मिट्टी दूर जाकर समुद्र के भीतर पहुँचती रहती है। इसलिए नदियों का मुहाना खुला रहता है, अर्थात् वे 'इस्चुऐरी' बनाती हैं। कभी-कभी निर्बल भाटा अथवा अधूरी धाराओं के कारण मुहाने के एक सिरे पर बालू या मिट्टी की निमग्न या निकली हुई राशि इकट्ठा हो जाती है। इसे बाधा या 'बार' (Bar) कहते हैं।

इस प्रकार जलधारा भी निरन्तर धरातल के घिसने में लगी रहती है और वायुमण्डल के क्षयात्मक कार्य में सहायक होती है। जलधारा के प्रभाव से धरातल धीरे-धीरे घिसता है। भिन्न-भिन्न जलवायु और स्थलों में जलधारा का प्रभाव विभिन्न होता है। किसी प्रदेश का ढाल और उसमें होनेवाली वर्षा का विशेष महत्त्व है। गंगा नदी जिस प्रदेश में होकर बहती है वहाँ वर्षा प्रचुर होती है। इसलिए मिसीसिपी नदी की अपेक्षा वह दूना पदार्थ समुद्र में बहा ले जाती है और अपने प्रवाहक्षेत्र को दूने वेग से घिसती है।

धरातल की आजकल की दशा में प्रति वर्गमील भूमि से ११४०० घनफ़ुट पदार्थ कटकर प्रति वर्ष समुद्र में पहुँचता है। पिछले दिनों की अपेक्षा यह पदार्थ बढ़ता जाता है। स्थल-भाग के इस तरह निरंतर कट-कटकर समुद्र को पाटते रहने के कारण समुद्र छिछला होता जाता है और इस प्रकार कहीं-कहीं भू-भाग विस्तार में बढ़ता जाता है। छीलन की मात्रा किसी भी प्रदेश की नदियों की अवस्था के अनुसार होती है। नई नदियाँ प्रायः पुरानी नदियों की अपेक्षा अधिक वेगवती और अधिक हानि पहुँचानेवाली होती हैं। अगले लेख में आप नदियों की कहानी पढ़ेंगे।

वायुमण्डल

वायुमण्डल पृथ्वी के जल और स्थलमण्डल की भाँति धरातल का एक अंग है। वायव्यावस्था में होने के कारण यह जल और स्थल दोनों से हल्का है और ऊपर उठा हुआ है। वायुमण्डल का वेष्टन पृथ्वी को चारों ओर से उसी प्रकार घेरे है जिस प्रकार नारंगी को उसका छिलका ढके रहता है। वायुमण्डल का आकार भी धरातल के आकार की भाँति है, और इसकी ऊँचाई तीन सौ मील से भी अधिक समझी जाती है। ऋतु-परिवर्त्तन आदि वायुमण्डल, जलमण्डल और धरातल के साथ उनके सम्बन्ध से होते हैं। अतएव धरातल के अध्ययन के लिए वायुमण्डल का अध्ययन ज़रूरी है।

वायुमण्डल के महासागर में हम उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार जल के महासागरों में मछलियाँ तथा अन्य जीव रहते हैं। अभी तक इसका पता नहीं लगा है कि वायुमण्डल की गहराई ठीक-ठीक कितनी है, परन्तु यह बात विदित हो चुकी है कि वायुमण्डल पृथ्वी के समीप अधिक घना है और जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ते हैं, वायु हल्की और पतली होती जाती है। अन्त में इसका पता नहीं लगता कि कहाँ पर वायु बिल्कुल विलीन हो जाती है।

वायुमण्डल का भार

धरातल के समीप वायुमण्डल के घने होने का कारण उसके ऊपर की वायु का दबाव है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते जाते हैं, वायु का परिमाण कम होता जाता है, और दबाव भी कम हो जाता है। प्रति ३॥ मील की ऊँचाई पर ऊपरी वायुमण्डल भार में प्रायः आधा रह जाता है। समुद्र-तट की अपेक्षा ३॥ मील ऊँचे स्थानों में वायु का भार आधा होता है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते हैं, हवा का भार कम होता जाता है। हवा का भार नापने के लिए हम जिन यन्त्रों का प्रयोग करते हैं, उनका वर्णन इसी अंक में 'भौतिक विज्ञान' स्तंभ में किया गया है। इन यन्त्रों को बैरोमीटर कहते हैं। पर्वतारोहण करनेवाले जानते हैं कि ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते समय किस प्रकार साँस लेने में कठिनाई होती है और यह कठिनाई ऊँचाई के साथ बढ़ती ही जाती है। हिमालय के दुर्गम और अजेय शिखरों पर पहुँचने में असफलता मिलने का यह भी एक प्रधान कारण है कि उस ऊँचाई पर वायु इतनी पतली है कि उसमें मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।

वायुमण्डल के अवयव

वायुमण्डल का निर्माण कई वायव्यों से मिलकर हुआ है। इनमें प्रमुख नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, आर्गन, कार्बन-डाइऑक्साइड और हाइड्रोजन हैं। इनके अतिरिक्त वायु में जल-वाष्प और धूलिकण (त्रसरेणु) भी रहते हैं। यद्यपि जल-वाष्प और त्रसरेणु वायुमण्डल के अंश नहीं हैं और धरातल तथा जलमण्डल से आकर इसमें सम्मिलित हो गये हैं तथापि इनका महत्त्व धरातल के ऋतु-परिवर्त्तन, ताप, प्रकाश और वर्षा आदि के लिए बहुत अधिक है।

वायुमण्डल के निचले भाग में भारी वायव्य और त्रसरेणु पाये जाते हैं। ऊपरी भाग में सम्भवतः ओज़ोन और हीलियम आदि हल्के वायव्य हैं। विभिन्न अवयव वायुमण्डल में किस अनुपात में हैं, यह निम्न तालिका से ज्ञात होता है:—

नाइट्रोजन ७८·०३% आर्गन ०·९४%
ऑक्सिजन २०·९९% कार्बन डाइऑक्साइड ०·०३%
हाइड्रोजन ०·०१%

यद्यपि वायुमण्डल के सभी अवयव मनुष्य के लिए परम उपयोगी हैं तथापि ऑक्सिजन और कार्बन डाइऑक्साइड का विशेष महत्त्व है। ऑक्सिजन के विषय में आप पढ़ चुके हैं और कार्बन डाइऑक्साइड के विषय में आगे पढ़ेंगे। दोनों ही वायव्य जीवनप्रदायक हैं। ऑक्सिजन जीवमात्र की जीवनप्रदायिनी है, कार्बन डाइऑक्साइड

वनस्पति जगत् को। दोनों का सम्बन्ध इस प्रकार से है कि एक के क्षय से दूसरे वायव्य की उत्पत्ति और दूसरे के क्षय से पहले की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि वायुमण्डल में इन दोनों वायव्यों का कभी अभाव नहीं हो सकता।

नाइट्रोजन वायुमण्डल में ऑक्सिजन को घुलाये रखती है। यह गैस ऑक्सिजन की अपेक्षा हल्की होती है। वायुमण्डल में ६८ मील की ऊँचाई तक ही ऑक्सिजन पाई जाती है। नाइट्रोजन के पाये जाने की सम्भावना ८० मील की ऊँचाई तक समझी जाती है।

वायुमण्डल की जाँच

अभी तक मनुष्य वायुमण्डल की बहुत थोड़ी गहराई की थाह लगा पाया है। गुब्बारों में बैठकर प्रो० पिकार्ड ने वायुमण्डल में दस मील की ऊँची यात्रा की है। अधिक से अधिक मनुष्य साढ़े चौदह मील ऊपर तक पहुँच पाया है। इससे ऊँचा पहुँचना अभी सम्भव नहीं हो सका है। तब फिर इससे भी ऊँचे वातावरण की जाँच कैसे की गई?

वायुमण्डल के ऊपरी भाग को जाँचने के लिए ख़ास तौर के गुब्बारे काम में लाये जाते हैं। इन गुब्बारों में स्वयंलेखक यंत्र लगा दिये जाते हैं, जो एक विशेष ऊँचाई पर पहुँचकर स्वयमेव कार्य करने लगते हैं और वहाँ की अवस्था को अंकित कर लेते हैं। जब गुब्बारे नष्ट हो जाते हैं तो स्वयंलेखक ऋतुमापक यन्त्र नीचे गिर पड़ते हैं। इन यन्त्रों में अंकित बातों से वायुमण्डल की ऊपरी अवस्था का परिचय मिलता है।

वायुमण्डल का ताप

गुब्बारों द्वारा अंकित बातों से पता लगता है कि वायुमण्डल के ऊपरी भाग के चाप और भार में तो अंतर है ही, साथ ही ताप में भी महान् परिवर्त्तन होता है। वायुमंडल के ऊँचे भागों में निचले भागों की अपेक्षा गरमी कम है और ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचाई की ओर उठते जायँ त्यों-त्यों हमें अधिक ठण्ढा वायुमण्डल मिलता जाता है। अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक १०० गज़ की ऊँचाई के पश्चात् १ अंश फ़ारनहाइट तापक्रम कम हो जाता है। यदि वायु में भाप और धूलि के कण न हों तो प्रति ६० गज़ की चढ़ाई के बाद तापक्रम १ अंश कम हो जाता है। आठ-दस मील की ऊँचाई तक हवा का तापक्रम इसी क्रम से घटता रहता है। इसी ऊँचाई तक की हवा में तापक्रम अक्षांश के अनुसार भिन्न-भिन्न रहता है। इसी ऊँचाई तक दिन और रात्रि तथा ग्रीष्म और शीत के तापक्रम में भी अन्तर पाया जाता है। आँधी, तूफ़ान और बादल आदि सबकी सीमा इसी ऊँचाई तक है। इसलिए इसे वायुमण्डल का 'चंचल' या 'परिवर्त्तन-मण्डल' (Troposphere) कहते हैं।

इससे ऊपरी वायुमण्डल की जाँच से पता चला है कि १० मील से अधिक ऊँचाई पर वायुमण्डल का तापक्रम सभी अक्षांशों, सभी ऋतुओं, तथा दिन-रात के सभी घंटों में लगभग १०० अंश फ़ारनहाइट रहता है। ठण्ढक स्थाई रहती है, न घटती है न बढ़ती है। यहाँ वायुमण्डल शान्त और क्षीण है। इसीलिए इस भाग को 'स्थिर' अथवा 'अचल' मण्डल (Stratosphere) कहते हैं।

वायुमण्डल के त्रसरेणु

वायुमण्डल सब स्थानों पर रजकण से लदा हुआ है। इन्हें 'त्रसरेणु' के नाम से पुकारा जाता है। 'त्रसरेणु' मिट्टी, धुएँ, रेत, सामुद्रिक सीकर, नमक, ज्वालामुखी की राख, उल्कापात की धूल, फूलों के पराग आदि के नन्हें-नन्हें कणों की अनन्त राशि है, जो वायुमण्डल में सर्वत्र व्यापक है। सूर्य का प्रकाश और धूप हमारे घरों में इन त्रसरेणुओं द्वारा छन-छनकर आ पाता है। धरातल के चारों ओर इनका एक परदा-सा पड़ा हुआ है। आकाश की नीलिमा इन्हीं की बदौलत दिखाई पड़ती है, नहीं तो आकाश घोर काला और भयानक लगता। सूर्य से आनेवाले प्रकाश की किरणों का पता हमको तभी लगता है जब कोई वस्तु उनके मार्ग में आ जाती है और इससे टकराने के कारण उन्हें लौटना या मार्ग बदलना पड़ता है। प्रकाश जब धरातल की ओर आता है तब इस रजकण-राशि पर पड़ता है और उससे टकराकर लौट जाता है। इसी से हमें वायुमण्डल प्रकाशित लगता है। यदि त्रसरेणु न होते तो प्रकाश के धरातल पर आने पर केवल वही वस्तु हमें दिखाई पड़ती जिनसे उसकी किरणें टकरातीं। शेष सब स्थान अंधकारपूर्ण होता। आकाश भी काला दिखाई देता और दिन में भी तारे दिखाई पड़ते।

भिन्न-भिन्न स्थानों और समयों में त्रसरेणुओं की संख्या न्यूनाधिक होती रही है। खुले प्रदेशों की अपेक्षा नगरों में इनकी संख्या कई गुना अधिक होती है। नगरों के वायुमण्डल में धूलि के कण अधिक बड़े होते हैं। इसीलिए नगरों में आकाश धुँधला या भूरा दिखाई पड़ता है। जहाँ ये त्रसरेणु महीन और कम होते हैं, वहाँ आकाश नीला और स्वच्छ दिखाई पड़ता है। आर्द्र वायु में त्रसरेणु भारी होकर धरातल की ओर गिरने लगते हैं। यही कारण है कि बरसात में वायुमण्डल शुद्ध और स्वच्छ प्रतीत होता है।

उषा और गोधूलि-वेला की मनोहारिणी अरुणिमा एवं अन्य मनोहर रंग इन्हीं कणों के प्रभाव से दीखते हैं और वास्तविक बात तो यह है कि यदि धूल और धुएँ के कण न हों तो न वर्षा हो और न ओस गिरे। न बादलों के बनने की ही नौबत आये। जलसीकर और हिमसीकर इन्हीं त्रसरेणुओं के कारण बन पाते हैं।

नन्हे-नन्हे जलसीकर की राशि पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं और यह राशि सारे नभमण्डल में एक ही धरातल में होती है तो प्रत्येक सीकर एक त्रि-पार्श्व काँच (triangular prism) का काम करता है और किरणों का प्रतिफलन तथा त्रोटन दोनों होने से

वायुमण्डल का विस्तार

इस चित्र में वायुमण्डल के केवल निचले स्तरों का एक मानचित्र दिया गया है। बाईं ओर के अंकों द्वारा (मीलों में) ऊँचाई दी गई है। क, ख, ग, घ, च और छ क्रमशः कुंतल (Cirrus), परतीले-कुंतल (Cirro-Stratus), कुंज-कुंतल (Cirro-Cumulus), जलद कुंज या उनले (Cumulus-nimbus), उच्च-कुंज (Alto-Cumulus) और कुंज या उनीले (Cumulus) मेघ हैं।
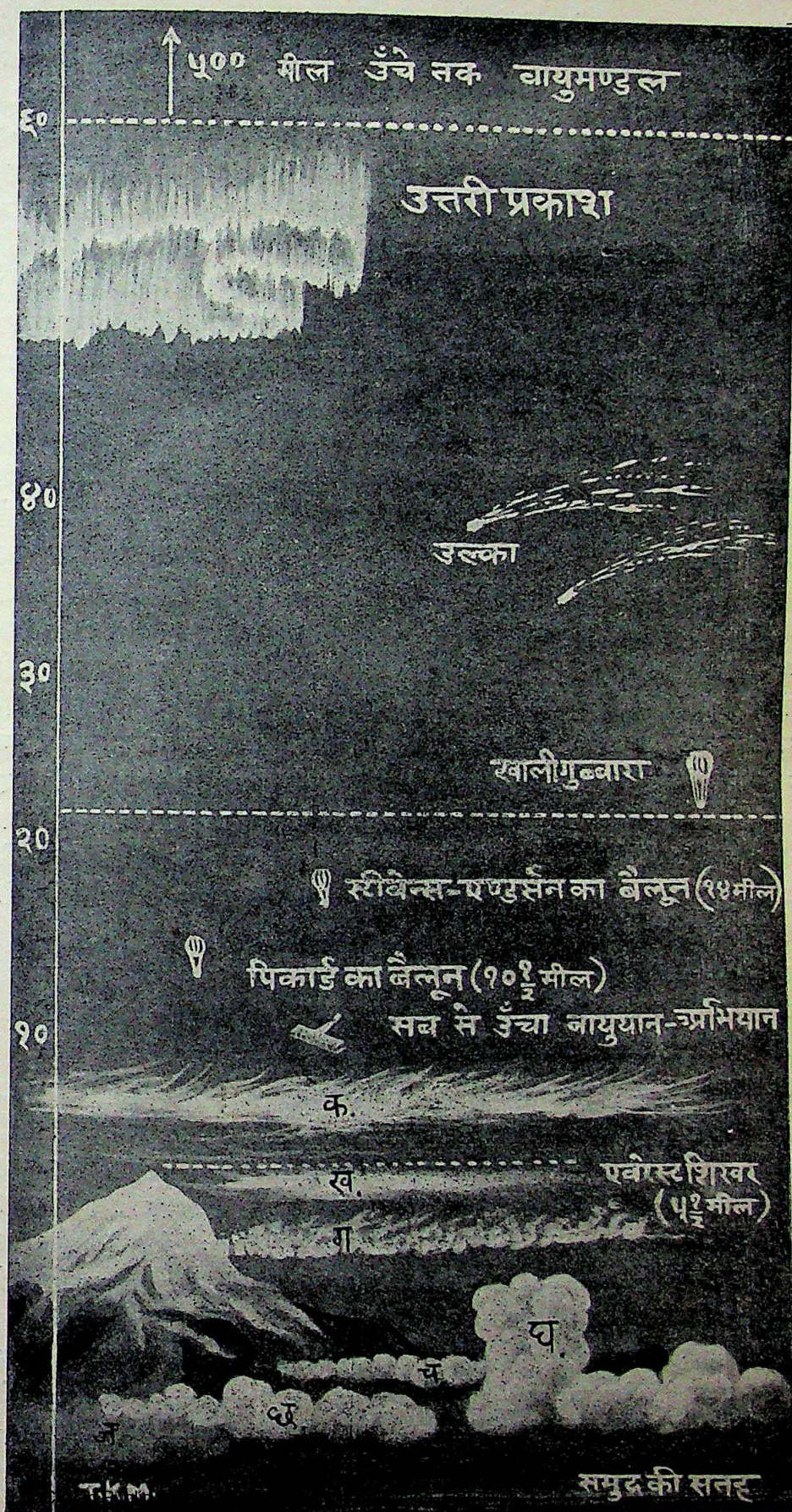
नभमण्डल में इन्द्रधनुष की छवि देखने में आती है।

सूर्यताप और वायुमण्डल

धरातल पर होनेवाली विभिन्न ऋतुओं (गरमी और सरदी आदि) का कारण पृथ्वी का 'आवर्त्तन' और 'परिभ्रमण' तो है ही, साथ ही वायुमण्डल के ताप और चाप का निरन्तर होते रहनेवाला परिवर्त्तन भी है। एक तो धरती में भीतरी गरमी है, दूसरे सूर्य का तेज उसे बाहर से गरम किये रहता है। धरातल की बनावट भी भिन्न-भिन्न है। कहीं मिट्टी है, कहीं रेत; कहीं पत्थर है, कहीं जल; कहीं हरियाली है, कहीं ऊजड़ बंजर भूमि। इसका फल यह होता है कि सूर्य का तेज कहीं तो धरती में सोख लिया जाता है और कहीं से लौटा दिया जाता है। कहीं-कहीं दोनों ही बातें होती हैं। जल पर पड़नेवाली धूप उसे गरमा देती है। ऊपरी तह भाप बनकर उड़ जाती है और वायुमण्डल में मिल जाती है। सूखी धरती जल की अपेक्षा जल्दी गरम होती है और तपती है। इसी कारण समुद्रतट से दूर के प्रदेश ग्रीष्म-ऋतु में अधिक गरम और तप्त होते हैं। जाड़ों में भी समुद्र-तट के प्रदेश अधिक ठण्डे नहीं हो पाते; क्योंकि जल से गरमी निकलती भी देर में है। धरती से गरमी जल्दी निकल जाती है, इसीलिए शीतकाल की रात्रि में समुद्रतट से दूर के स्थान अधिक ठण्डे होते हैं।

गरमी से वायु चारों ओर फैलती है और उसका आयतन बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से वायु ठण्ढी पड़ जाती है और तापांश घट जाता है। ठण्ढक से संकोच होता है। दबाव से आयतन घटता है और गरमी बढ़ जाती है। दबाव घटा देने से आयतन बढ़ जाता है और साथ ही ठण्ढक भी बढ़ जाती है। वायुमण्डल में भी जब एक ओर दबाव बढ़ जाता है तो आयतन घट जाता है और उस ओर से हवा बह आती है। इस तरह से वायु में बहाव पैदा होता है। अधिक दबाववाले प्रदेश से कम दबाववाले प्रदेश की ओर हवा बहती है। इसी प्रकार हवा की धारा बनती है।

सूर्य की गरमी से धरातल के पास की वायु गरम होकर ऊपर उठ जाती है और उसका स्थान और वायु ले लेती है। कारण यह है कि गरम होने से हवा अधिक फैल जाती है और इससे उसके ऊपर की हवा बहुत दब जाती है। इस स्थान की हवा में इसके चारों ओर की हवा की अपेक्षा अधिक दबाव होने के कारण, जहाँ दबाव कम है उस ओर हवा की धारा बहने लगती है। परन्तु इस धारा के बहने से आगे की तथा नीचे की तहों की हवा दबती जाती है। इसका फल यह होता है कि जिस स्थान पर हवा में अधिक तपन उत्पन्न हुई थी, उसके चारों ओर की हवा में अधिक दबाव उत्पन्न हो जाता है और चारों ओर से उमड़कर गरम हवा की ओर धारा बहने लगती है। इस प्रकार वायु के प्रवाह का एक चक्र-सा बन जाता है। इस प्रकार वायु का प्रवाह प्रत्येक जगह होता है, परन्तु वह केवल स्थानीय ही होता है, संसार-व्यापक नहीं।

धरातल के विभिन्न स्थलों के वायुमण्डल में किस प्रकार वायु की धारायें बनती हैं और बहती हैं, इसका विवरण हम आगे देंगे। यहाँ वायुमण्डल की एक और महत्वपूर्ण घटना का परिचय दे देना आवश्यक है। वायुमण्डल में कभी-कभी भीषण बवण्डर और तूफ़ान आदि आते हैं। इनको चक्रवात (cyclones) और प्रतिचक्रवात (anti-cyclones) कहते हैं। ये असाधारण कारणों से वायुमण्डल में एकाएक उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनकी सीमा मर्यादित होती है और इनका प्रलयंकारी परिणाम इसी सीमा तक रहता है। भारत में भी आँधी और बवण्डर आते हैं, परन्तु ये इतने भयंकर नहीं होते। आसाम तथा पूर्वीय बंगाल में इनकी अधिकता होती है। इन आँधियों के साथ-साथ कभी-कभी जल और हिम की वर्षा भी होती है और तब इनका वीभत्स रूप बढ़ जाता है। नगर के नगर उजड़ जाते हैं और सभ्यता के चिह्न मिट जाते हैं।

चक्रवातों और प्रतिचक्रवातों के कारण की खोज बहुत की गई है और वैज्ञानिक इसमें निरन्तर लगे हुए हैं। वायुमण्डल की जाँच से अनुमान लगाया गया है कि इनका कारण अस्थिर नीची वायु में ही नहीं है। इनका कारण स्थिर वायुमण्डल में अथवा अन्तरिक्ष में होगा, जहाँ की असाधारण स्थिरता से अस्थिर वायुमण्डल में भयानक परिणाम पैदा होते होंगे।

वायुमण्डल में भाप

धरातल पर सूर्य की गरमी के कारण निरन्तर भाप बना करती है। समुद्र, झील, ताल, नद, नदी, तालाब, कुएँ आदि सभी जलाशयों से जल भाप के रूप में परिणत होकर वायुमण्डल में मिलता रहता है। यह भाप वायु में मिलकर उसे आर्द्र बनाती रहती है। गरम हवा भाप को वायव्य रूप में अपने में मिलाये रहती है, परन्तु जब वह ठण्ढी होती है तो भाप जम जाती है। वायु में भाप उस समय तक वायव्य दशा में रहती है, जब तक वायु सम्पृक्त नहीं हो जाती है (यदि किसी तापक्रमवाली हवा में इतनी भाप है कि बिना तापक्रम बढ़ाये उससे अधिक भाप उसमें नहीं समा सकती, तो वह वायु 'सम्पृक्त' वायु कह-

लाती है)। जब वायु सम्पृक्त हो जाती है और उसमें अधिक भाप समाने की गुंजायश नहीं रहती, तब भाप सघन होकर प्रकट हो जाती है और बादल, कुहरा, वर्षा, हिम अथवा ओस का रूप धारण कर लेती है।

घन या मेघ

ठंढी वायु बिल्कुल अनार्द्र तो नहीं हो जाती, परन्तु वह गरम होकर जिस मात्रा में आर्द्रता को धारण करती थी, ठंढी होकर उतनी आर्द्रता धारण नहीं कर सकती। अन्तरिक्ष देश में अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकर या हिमसीकर, जो वायु की शीतलता के कारण अलग-अलग जम जाते हैं, वायु में भाप की ही तरह अवलम्बित रहकर कुहरे या कुहासे का रूप धारण करते हैं। इनके समूह का विस्तार और गहराई दोनों अत्यधिक होने के कारण ये बहुत घने होकर हमें जिस रूप में दिखाई देते हैं, उसे हम 'घन', 'मेघ' या 'बादल' कहते हैं। धरातल से ये अनेक रूप में दिखाई देते हैं। ऊँचाई - निचाई, प्रकाश के सीधे या आड़े-तिरछे पड़ने या न पड़ने, तथा धूप-छाँह के तारतम्य से इनमें तरह-तरह के रूप देख पड़ते हैं और इस कारण इनके नाम भी तरह-तरह के रक्खे गये हैं।

ओले कैसे बनते हैं?

सबसे ऊँचे बहुत पतले परों के समूह की भाँति जो धुँधले बादल दिखाई पड़ते हैं, उन्हें 'कुन्तल मेघ' (Cirrus Clouds) कहते हैं। ये लगभग पाँच मील की ऊँचाई तक होते हैं और नन्हें हिमकणों से बने होते हैं। इन पर प्रकाश पड़ने से बड़े विचित्र दृश्य देखने में आते हैं।

इनसे कुछ ही नीचे उतरकर ऊँचे कुंज और उनीले मेघ (Cumulus Clouds) होते हैं। ये सबसे सुन्दर मेघ होते हैं। ये बड़े विचित्र क्रम से तहों अथवा धारियों में फ़ौज के सिपाहियों की भाँति छा जाते हैं। ये बर्फ़ की भाँति शुभ्र, व्यापक और सीधे समानान्तर रुई के गाल जैसे छोटे-छोटे लहरीले बादलों की अनन्त राशि के रूप में देख पड़ते हैं। कभी-कभी जब आकाश थोड़ी देर को खुला रहता है, इन्हीं बादलों की राशि से सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर छोटा रंगीन मण्डल दीखता है। इनकी ही जगह कभी-कभी ऊँचे परतीले मेघ (Stratus Clouds) भी दिखाई पड़ते हैं। धरती से ये एक या दो मील से अधिक ऊँचाई पर नहीं होते, पर बहुधा ये आकाश का बड़ा भाग घेरे रहते हैं।

धरती से लगभग एक मील की ऊँचाई पर काले मेघों की बहुत भारी राशि देख पड़ती है, जिसके किनारे चाँदी की भाँति चमकते हैं और सफ़ेद होते हैं। ये 'कुंज मेघ' कहलाते हैं। ऊपर चढ़ती हुई, धरती के स्पर्श से गरमाई हुई वायु की धाराओं से जो भाप ऊपर को चढ़ती जाती

है, उसी के ठंढे पड़ जाने से यह कुंजमेघमाला बन जाती है। इसी के साथ प्रायः इन्हीं मेघों के ऊपर 'घन' या 'जलद' (Nimbus Clouds) मेघ की भारी खाकी या काली चीथड़ों से बनी हुई चाँदनी दिखाई पड़ती है। कभी-कभी मिलकर बढ़ते-बढ़ते ये कुंज बादल डेढ़-डेढ़ कोस तक की गहराई की मेघराशि या कादम्बिनी बन जाते हैं। ये कुंज रूप के घने जलद शीघ्र बरसते हैं, अधिक देर तक छाये नहीं रह सकते। अति घने होने के कारण सूर्य की किरणें इनमें प्रवेश कर नहीं पाती हैं। इसलिए ये हमें काले वर्ण के दिखाई पड़ते हैं। दूसरे बादलों में सूर्य की किरणें घुसकर फैल जाती हैं, इसलिए उनका रंग सफ़ेद हो जाता है। वायुमण्डल की भाप और रेणु पर सूर्य किरणों के बिखरने से सूर्यास्त के बादल लाल, पीले तथा विचित्र रंग के बन जाते हैं। सूर्य की किरणों में इन्द्रधनुष के सभी रंग विद्यमान हैं और जब वे मेघकणों में विशेष कोण बनाती हुई प्रवेश करती हैं तो प्रकाशकिरणों के वर्ण पृथक् हो जाते हैं। इसलिए हम सूर्यास्त के सुन्दर रंग देखा करते हैं। इसी प्रकार जब कभी चन्द्रकिरणें ऊनीले बादलों के हिमकणों पर विशेष कोण बनाती हुई प्रवेश करती हैं तो चन्द्रमा के चारों ओर 'प्रभामण्डल' दिखाई पड़ता है।

कुहरा या कुहासा

कोहरा भी बादल का ही एक रूप है। वस्तुतः कोहरा या कुहासा वह बादल है जो धरती को छूता हुआ रहता है। यह जलसीकरों का समूह है जो अत्यन्त दूर से देखने पर बादलों-सा ही दीखता है। जब यह बहुत घना होकर पहाड़ों पर जलदवाले कुहासे के रूप में रहता है तो इसके भीतर चलने-फिरनेवाले, चाहे वे छाता लगाये हों, बिना वर्षा के ही पानी से भीग जाते हैं।

रात में जब धरती बहुत जल्दी ठंढी हो जाती है तब वायु की आर्द्रता उसके सम्पर्क में आकर जलसीकर बनकर ठंढी चीज़ों पर ओस के रूप में जम जाती है। शीतकाल में जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, कुहासे के जलसीकर जमकर हिमसीकर बन जाते हैं और हिमसीकर ही इकट्ठे होकर रुई के गाले की भाँति छतों, पेड़ों आदि पर जम जाते हैं। यही 'पाला' कहलाता है। टपकता हुआ जल भी जमकर पाला बन जाता है। इनके भाँति-भाँति के अद्भुत रूप और आकार बन जाते हैं।

ओला और बिजली

वायुमण्डल में जितना जल व्यापक है, उसके उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण रूप हमें देखने को मिलता है। यह 'ओला' है। बड़े-बड़े ओलों की परीक्षा करने से पता लगा है कि ओले बरफ़ के पतले-पतले परतों से मिलकर प्याज़ की भाँति बने होते हैं। ओला कैसे बनते हैं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता; परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि बिजली की कड़क और ओले के बनने में कुछ सम्बन्ध अवश्य है। क्योंकि ऐसा देखा गया है कि बिजली चमकने के साथ-साथ ओलों की भी वर्षा होती है। ओलों के बनने और धरती तक आने के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि जहाँ हिमसीकर बन जाते हैं, वहाँ बड़ी वेगवती वायु की धारायें ऊपर-नीचे की दिशा में बहती हैं और ये धारायें हिमसीकरों को भी ऊपर-नीचे नचाती हैं। इस यात्रा के चक्कर में हिमसीकर एक दूसरे से टकराकर बढ़ते जाते हैं। जब ये इतने बड़े हो जाते हैं कि वहाँ के झोंकों में अधिक नहीं ठहर सकते तो धरती के अधिक समीप आ जाने के कारण उससे आकृष्ट होकर वेग के साथ गिर पड़ते हैं।

ओले मेघराशि या कादम्बिनी अर्थात् घने जलदों में उत्पन्न होते हैं। यहीं से आकाश में बिजली चमकती है। बादल के भीतर जलसीकरों पर बिजली इकट्ठी हो जाती है। जब बादल बड़े वेग से एकत्रित होते हैं, तब बहुत-से छोटे-छोटे बूँद संयुक्त होकर बड़े हो जाते हैं। इसलिए इनकी विद्युत् शक्ति भी इतनी बढ़ जाती है कि उनके बीच की हवा अलग हो जाती है और बिजली चिनगारी के रूप में बादल के एक सिरे पर टूटती है। बार-बार यह क्रिया होती है और इसी क्रिया में कड़क होती है। जब बिजली लम्बी धारी के आकार में चमकती है, तब उसके बाद निनाद या गरजना सुनाई नहीं देता है। पर मुद्राकार और सर्पाकार बिजली अचानक बारबार चमककर अपने आगे की हवा को हटा देती है। तब दूसरी हवाएँ उसका ख़ाली स्थान भरने दौड़ती हैं। इसलिए विशाल शब्द उत्पन्न होता है। इसकी प्रतिध्वनि बादलों में पीछे भी होती रहती है। बिजली की चमक और कड़क में सदैव अन्तर रहता है। इसका कारण यह है कि प्रकाश का वेग शब्द के वेग की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक है। इसलिए हमें पहले बिजली की चमक दिखाई देती है और गरज कुछ देर बाद सुनाई देती है।

वायुमण्डल के परिवर्त्तन ही से धरातल पर ऋतुएँ होती हैं, जिनसे [illegible] की भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर पड़ता है। हम आगे बतायेंगे कि जलवायु क्या है।
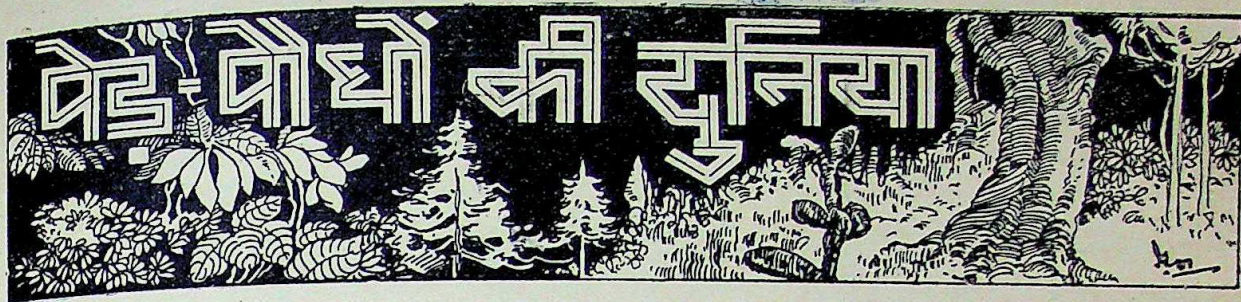
अनोखी जड़ें

जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, जड़ के दो मुख्य काम हैं—पौधे को रोपना और उसके लिए पृथ्वी के जल और खाद से ख़ूराक़ इकट्ठा करना। कभी-कभी जड़ें इनके अतिरिक्त अन्य काम भी करती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों से कुछ भिन्न होती हैं; इसलिए इन्हें हम अनोखी या निराली जड़ें कह सकते हैं। कर्त्तव्य-भेद तथा रूपान्तर के अनुसार इनके कई भेद हैं। इनमें से कुछ का हम यहाँ वर्णन करेंगे।

गोदाम का काम देनेवाली जड़ें

अन्य जीवों की भाँति पौधों को भी ख़ूराक की आवश्यकता रहती है। यह उन्हें वायु और पृथ्वी से बराबर मिलती रहती है और इस प्रकार जब तक अवस्था अनुकूल रहती है पौधों में खाद्य पदार्थ बराबर बनते रहते हैं। इसलिए निशस्ता, प्रोटीन, शक्कर अथवा दूसरी वस्तुएँ न्यूनाधिक मात्रा में बराबर जमा होती रहती हैं। इन उपार्जित वस्तुओं में से कुछ तो पौधों की बाढ़-वृद्धि आदि में ख़र्च हो जाती हैं, परन्तु फिर भी कुछ-न-कुछ बची रह जाती हैं। इन बचे पदार्थों के लिए गोदाम की ज़रूरत पड़ती है। विशेषकर पेड़-पौधों में तने ही कोठार का काम देते हैं; परन्तु किसी-किसी पौधे में जड़ें इस काम को करती हैं। इस प्रकार की कितनी ही जड़ों से आप परिचित भी होंगे। गाजर, मूली, शल्जम, शकरकंद, जिन्हें हम तरकारियों में काम लाते हैं, इन्हीं में से हैं।

गोदाम का काम देनेवाली जड़ें साधारण जड़ों से मोटी होती हैं। इनमें जल और भाँति-भाँति के खाद्य-रस संचित रहते हैं। चुकन्दर की जड़ में शक्कर जमा रहती है। इसी प्रकार किसी पौधे की जड़ में निशस्ता और किसी में कोई अन्य पदार्थ इकट्ठा रहता है।

चित्र १—शतावर

यह लहसुन और प्याज की जाति का पौधा है। इसकी जड़ें औषधियों के काम आती है। (फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा)

जड़ों में संचित वस्तुओं में से पानी सबसे उपयोगी है। रेगिस्तानी भागों में उगनेवाले पेड़-पौधों में प्रायः यही वस्तु संचित रहती है। इन स्थानों में उगनेवाली वनस्पतियों की वायुवर्त्ती शाखें और तने छोटे और मुलायम होते हैं; परन्तु जड़ें लम्बी और मोटी होती हैं। इन जड़ों का अधिकांश भाग पानी होता है।

तने के बनिस्बत जड़ों में खाद्य पदार्थों का संचित रहना पेड़-पौधों के लिए अधिकतर लाभकर प्रतीत होता है; क्योंकि जड़ें ज़मीन के अन्दर रहने के कारण, तने और शाखों की अपेक्षा, हवा, सर्दी-गर्मी तथा जानवरों के आक्रमण से अधिक सुरक्षित रहती हैं। मांसल जड़ें रेगिस्तानी भागों में उगने वाले पेड़-पौधों में अधिक पाई जाती हैं।

बनावट के अनुसार गोदाम का काम देनेवाली जड़ों के कई भेद हैं। गाजर में ये जड़ें गौपुच्छाकार (conical), शल्जम में शल्जमाकार (napiform) और मूली में मूलिकाकार (fusiform) होती हैं। इनके और भी अनेक भेद हैं।

मांसल जड़ें भिन्न-भिन्न भाँति की जड़ों के रूपान्तर से उत्पन्न होती हैं। गाजर और चुकन्दर में ऐसी जड़ें मुख्य जड़ का रूपान्तर हैं; डायसकोरिया बटाटाज़ (यह एक प्रकार का रतालू

है) में ये गौण मूल हैं; शकरकन्द में ये अनियमित जड़ों से उत्पन्न होती हैं, और शतावर की मोटी जड़ें (चि० १), जो आयुर्वेदीय तथा यूनानी दवाइयों के काम आती हैं, झकड़ा जड़ों में परिवर्त्तन से उत्पन्न होती हैं। मांसल जड़ों द्वारा प्रायः पौधों की उत्पत्ति का काम भी होता है।

वायवीक जड़ें

वैसे तो जड़ें पृथ्वी के अन्दर ही रहती हैं और साधारण पौधों में ये ज़मीन के नीचे ही फैली रहती हैं; परन्तु आपने ऐसे पेड़ भी देखे होंगे जिनमें ज़मीन के ऊपर भी जड़ें होती हैं। इस प्रकार की वायु में वर्त्तमान जड़ों को हम 'वायवीक जड़ें' कहते हैं। कर्त्तव्य तथा बनावट के अनुसार इनके कई भेद हैं।

वायु से जलशोषण करनेवाली वायवीक जड़ें

बरगद, पीपल, तथा पकरिया जैसे वृक्षों की शाखों से लटकती बरोही वायवीक जड़ें हैं। इस समूह के पौधे प्रारम्भ में प्रायः दूसरे पेड़ों पर उगते हैं (चि० २), लेकिन फिर भी ये परोपजीवी नहीं होते। ये अपरिजात पौधे (Epiphytes) हैं। जिन पेड़ों पर ये उगते हैं, उनसे केवल इन्हें आधार ही मिलता है; जल और खाद्य पदार्थ इन्हें स्वयं प्राप्त करने पड़ते हैं। अपरिजात पौधों में अनेक प्रकार के पर्णाङ्ग, मॉस, लिवरवर्ट, तथा लाइकेन आदि हैं। पोथोस और कितने ही आरकिड (चि० ३) भी इसी समूह के पौधे हैं। इस वृन्द के पौधों को विशेषकर जलाभाव का भय रहता है, इसलिए ये प्रायः ऐसे स्थानों पर ही उगते हैं जहाँ जल की कमी नहीं रहती। कोई-कोई लिवरवर्ट और मॉस तथा लाइकेन तो सूख जाने पर भी बहुत समय तक सजीव बने रहते हैं। ऐसे पौधे उन स्थानों पर भी उगते हैं जहाँ साल में कई महीने जल का अभाव रहता है। मंसूरी तथा नैनीताल जैसे स्थानों में आपने पेड़ों के तनों और शाखों पर अनेक प्रकार के मॉस और लिवरवर्ट देखे होंगे। वर्षा का अन्त होने पर ये सूख जाते हैं परन्तु फिर भी सजीव रहते हैं और दूसरे साल मेह की बौछारें पड़ते ही ये हरे हो जाते हैं। फूलवाले अपरिजात पौधे और अपरिजात पर्णाङ्ग विशेषकर भूमध्य-रेखा के निकटवर्त्ती जंगलों तथा पर्वतों की चोटियों पर, जहाँ बरसात अधिक होती है, उगते हैं।

चित्र २—खजूर पर उगा पकरिये का वृक्ष

इसके बीज संभवतः चिड़ियों द्वारा यहाँ आये थे। अभी यह छोटा है और इसकी जड़ें पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाई हैं। पर समय बीत जाने पर इसकी बरोही भूमि तक पहुँच जायँगी। तब आश्रयदाता खजूर के लिए कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी।

(फ़ोटो—श्री० वि० सा० शर्मा)

हमारे देश में अपरिजात पौधे लंका या सीलोन, दक्षिण के नीलगिरि पर्वत, पश्चिमी घाटों के जंगलों और हिमालय पर्वत, मंसूरी, नैनीताल, दारजिलिंग, शिलांग और सिकिम जैसे अनेक स्थानों में अधिकता से उगते हैं।

अपरिजात पौधों को जल की कठिनाई रहती है, इसलिए इनमें से बहुतों की वायवीक जड़ों में बाहर की ओर एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसे 'विलामेन' (Velamen) कहते हैं। इस तन्तु के कोशों की भित्तिकायें पतली परन्तु छल्लेदार, पेंचदार या गर्तमय होती हैं, जिसके कारण वे दृढ़ बनी रहती हैं। इन भित्तिकाओं में छेद भी होते हैं। इस तन्तु की विशेष प्रधानता यह है कि वह पानी को सुगमता से ग्रहण कर लेता है। विलामेन के कोश वायुमंडल की तरी से, चाहे वह भाप के रूप में हो या जल के रूप में, जल को सोख लेते हैं। इसलिए जिन पौधों की जड़ों में विलामेन होता है उन्हें जल प्राप्त करने में कठिनाई नहीं रहती।

चित्र ३—आरकिड

यह पहाड़ी देशों में, जहाँ वर्षा अधिक होती है, होनेवाला पौधा है। इस जाति के पौधों को जल की विशेष आवश्यकता रहती है। हमारे बगीचों में ये कठिनता से जीवित रहते हैं। इस जाति के पौधे प्रायः और वृक्षों पर उगते हैं। (यह चित्र रा० ब० डा० रघुनन्दनलालजी के बगीचे से लिया गया है। फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।)

किसी-किसी आरकिड (चि० ३) और ऐरोफाइट की वायवीक जड़ों में विलामेन के अन्दर के वल्क के कुछ कोशों में पर्णहरित होता है। इसके महत्त्व को हम आगे चलकर बतायेंगे।

यद्यपि अपरिजात पौधे परोपजीवी प्रकृति के नहीं होते फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी इनसे उन पेड़ों को, जिन पर ये उगते हैं, बड़ी हानि पहुँचती है। बरगद, पीपल अथवा इसी समूह के अन्य कई पेड़ों के फन्दे में जो वृक्ष आ जाता है उसका छुटकारा होना कठिन है। इन वृक्षों के पके फलों को चिड़ियाँ बड़े चाव से खाती हैं। इसलिए जिन दिनों इनके फल पकते हैं, चिड़ियों के झुण्ड-के-झुंण्ड उन पर आते हैं और फलों को ले-लेकर दूसरे वृक्षों पर जाते हैं। इस प्रकार चिड़ियों के द्वारा इनके बीज दूसरे पेड़ों पर पहुँच जाते हैं। समय आने पर इन्हीं बीजों से पेड़ उगते हैं। क्रमशः इन नवीन पौधों की पत्तियाँ और शाखें ऊपर को बढ़ती हैं और जड़ें नीचे की ओर को चल पड़ती हैं! प्रारम्भ में ये जड़ें कोमल और पतली होती हैं; परन्तु ज्यों-ज्यों वृक्ष पुराना होता है उससे अनेक जड़ें फूट निकलती हैं, जो धीरे-धीरे आधार के चारों ओर लिपट जाती हैं (चि० २)। जैसे-जैसे पत्तियों को प्रकाश मिलता है, पेड़ और भी तेज़ी से बढ़ने लगता है। अन्त में उसकी जड़ें ज़मीन तक जा पहुँचती हैं। अब वे साधारण जड़ों की भाँति पृथ्वी से जल और खाद्य रस खींचने लगती हैं और इस प्रकार पेड़ के लिए और भी सुभीता हो जाता है, जिससे वह तेज़ी से बढ़ने लगता है। वे वायवीक जड़ें, जो अब तक कोमल थीं, कड़ी

चित्र ४—बरगद की बरोही

किसी समय ये तने-जैसी बरोहियाँ सूत-जैसी जटाओं के रूप में उत्पन्न हुई थीं। आज वे बढ़कर पृथ्वी के अन्दर पहुँच गई हैं। मोटान में ये तनों के समान हैं। इनको मुख्य तनों से पहचानना कठिन है। (फ़ोटो—श्री राजेन्द्र वर्मा सिठोले।)

होने लगती हैं और उनसे कितनी ही शाखा-प्रशाखाएँ फूट निकलती हैं, जो चारों ओर फैलकर आश्रयदाता पेड़ को बुरी तरह से जकड़ लेती हैं। ज्यों-ज्यों आश्रयदाता वृक्ष पुराना हो अन्दर से गौण वृद्धि के कारण फैलना चाहता है, इन ज़ंजीर की तरह जकड़ी हुई बरोहियों के कारण उसका बढ़ना कठिन हो जाता है। धीरे-धीरे फंदे और भी अधिक होते जाते हैं और यद्यपि इनमें जकड़ा वृक्ष अन्दर से ज़ोर मारकर इन्हें तोड़कर अलग होना चाहता है परन्तु इसमें वह सफल नहीं हो पाता है। अब धीरे-धीरे आश्रयदाता पेड़ कमज़ोर होने लगता है। उसकी पत्तियाँ और शाखाएँ मुरझाने लगती हैं और अन्त में इस संग्राम में पराजित हो उसे उस अपरिजात पेड़ को, जिसको उसने आज से कई वर्ष पूर्व आश्रय दे पाला था, स्थान देना पड़ता है। फिर भी हम अपरिजात पौधों को परोपजीवी नहीं कह सकते। वे केवल आश्रय के लिए ही दूसरे पेड़ों पर उगते हैं और यद्यपि आश्रयदाता पेड़ इन्हीं के कारण अक्सर सूखकर मर भी जाते हैं, फिर भी जिन पेड़ों पर इस जाति के वृक्ष उगते हैं उनसे वे खाद्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते।

जैसा ऊपर कह चुके हैं, बरगद जैसे पेड़ों की बरोहियाँ जिस समय बढ़कर ज़मीन तक पहुँच जाती हैं, वे साधारण जड़ों का काम करने लगती हैं। साथ-ही-साथ ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती हैं, वे मोटी और मज़बूत होती जाती हैं। तने की भाँति वे शाखों और पत्तियों के बोझ को धारण करने का भी काम देती हैं। इस प्रकार ऐसे पेड़ ज्यों-ज्यों पुराने होते हैं उनमें इस प्रकार के अनेक तने उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत पुराने बरगद के पेड़ में मुख्य तने को इन तनों से पहिचानना कठिन होता है (चि० ४)।

हमारे देश में कलकत्ते के बोटैनिकल गारडन्स में एक पुराना बरगद का पेड़ है, जिसमें २५० से अधिक ऐसी बरोहियाँ हैं, जिनकी मोटाई २-३ गज़ तक है। पतली बरोहियों की संख्या ३००० से भी अधिक है। इस प्रकार इस वृक्ष में सब मिला कर ३२५० से भी अधिक तने हैं। इसे हम वृक्ष नहीं बल्कि अच्छा ख़ासा बरगद का बग़ीचा कह सकते हैं। हज़ारों आदमी इसके साये में आराम कर सकते हैं। इसकी शाखों में करोड़ों पक्षियों के घोंसले हैं।
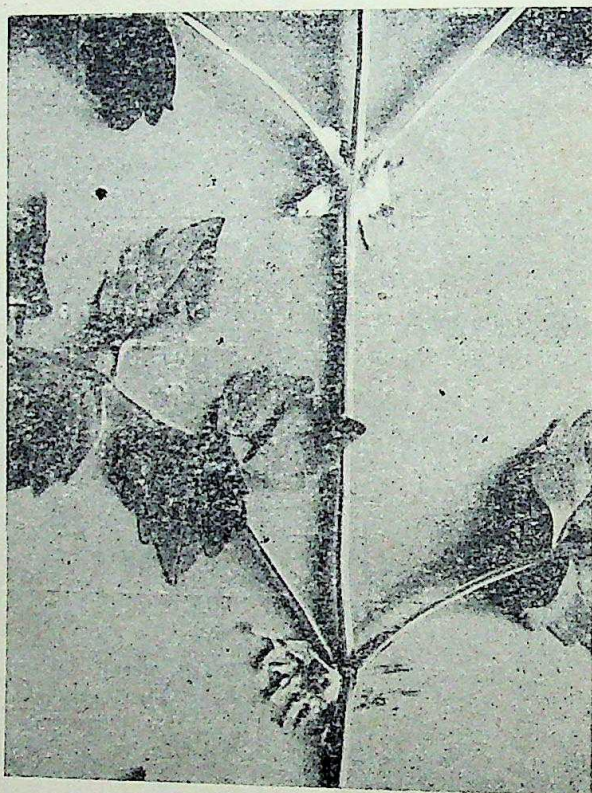
चित्र ५—टिकोमा स्प्लैन्डेन्स

यह एक फुलवाड़ियों की लता है। इसमें नारंगी रंग के मनोहर पुष्प होते हैं। जड़ों द्वारा यह लता दीवालों और वृक्षों पर चढ़ जाती है।

पत्तियों का काम करनेवाली जड़ें।

साधारण पेड़-पौधों की पत्तियों में पर्णहरित होता है, जिसके द्वारा वे हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस से कार्बन ग्रहण करती हैं। जैसा कि वायु से जल ग्रहण करनेवाली जड़ों का वर्णन करते समय कहा गया है, कोई-कोई अपरिजात आरकिड (चि० ३) तथा कुछ दूसरे अपरिजात पौधों की वायवीक जड़ों में पर्णहरित होता है, जिसके सबब से वे वायु की कार्बन का उपभोग करते हैं। इन पौधों की जड़ें रोपण के अतिरिक्त जल-शोषण और कार्बन-संश्लेषण का भी काम करती हैं। यथार्थ में ऐसी जड़ें इन दोनों ही क्रियाओं का बड़ी कुशलता से पालन करती हैं। जिस समय ऐसी जड़ों का दूसरे वृक्ष की छाल या डाल से लगाव होता है, उससे अनेक नलिकाकार या अन्य भाँति के कोश बनते रहते हैं, जो इन्हें आधार से चिपटने का काम देते हैं और इसलिए ये जड़ें आधार को मज़बूती से जकड़ लेती हैं। यह पकड़ इतनी मज़बूत होती है कि अगर आप किसी वृक्ष की डाल पर लगे आरकिड को वहाँ से हटाकर कहीं और लगाना चाहें तो जड़ों के साथ-साथ अक्सर पेड़ की छाल भी उखड़ आती है। इन्हीं वायवीक जड़ों में, जिस समय उनका वृक्ष की

शाखों से लगाव नहीं रहता, ऐसे कोशों का बनना बंद हो जाता है।

जैसा पहले कह चुके हैं, इन जड़ों में सबसे बाहर की ओर एक रंगहीन कोशों का आवरण या विलामेन होता है, जो वायुमंडल की तरी और भाप से जलशोषण करता रहता है। विलामेन के अन्दर के पर्त में पर्णहरित होता है, जिसका हरापन जिस समय तरी रहती है दिखाई देता रहता है। विलामेन के कोशों में जलशोषण की प्रधानता किसी पौधे में कम और किसी में अधिक रहती है। एक जाति के आरकिड को, जिसे आनसिडियम स्फैसीलेटम (*Oncidium Sphacelatum*) कहते हैं, अगर शुष्क वायुमंडल से तर वायुमंडल में ले जाया जाय तो इसकी वायवीक जड़ें २४ घंटे के अन्दर अपने वज़न का ८ फ़ी सदी जल सोख लेती हैं। एक दूसरी जाति के आरकिड इपीडेंड्रन इलोंगेटम (*Epidendron Elongatum*) की वायवीक जड़ें ऐसी दशा में अपने वज़न का ११ फ़ी सदी वज़न जल सोख लेती हैं।

चित्र ६—केवड़ा

अवलम्ब जड़ें इस पौधे में छतरी के भार को रोके रहती हैं।

जब वायुमंडल में तरी नहीं होती तो विलामेन के कोश सूख जाते हैं और इस प्रकार वे अन्दर के कोशों को वाष्प-त्याग से बचाते हैं। इसलिए विलामेन से पौधों को बड़ा लाभ होता है।

जिन पौधों में ऐसी वायवीक जड़ें होती हैं, जिनमें कि विलामेन और पर्णहरित होता है, वे पौधे वायु से जल और कार्बन दोनों ही ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनमें स्टार्च-संश्लेषण होता रहता है।

चित्र ७—ज़ुआर के निचले भाग का चित्र

इसकी निचली गाँठों से अब तक जड़ें ज़मीन में जा धँसती हैं। इनसे पौधों को खड़ा रहने में सहारा मिलता है।

(चित्र—श्री० वि० सा० शर्मा द्वारा)

पौधों को चट्टानों तथा दूसरे पेड़-पौधों पर चढ़ने में मदद देने-वाली जड़ें

अनेक पौधों की वायवीक जड़ें उन्हें बौड़ने में मदद देती हैं। ऐसी जड़ों के सहारे ये पौधे दूसरे पेड़ों के तनों व चट्टानों तथा दीवालों पर बड़ी कुशलता से चढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार की जड़ें अनेक पौधों में होती हैं। टिकोमा स्प्लैन्डेन्स (*Tecoma splandens*) (चि० ५) और फाइकस स्टीपुलेटा (*Ficus stipulata*) में ऐसी जड़ें होती हैं।

अवलम्ब जड़ें

समुद्रतट के दलदलों की मिट्टी सदा गीली बनी रहती है, इसलिए ऐसे स्थानों पर उगनेवाले पेड़ों को धरती के अन्दर के अवलम्ब का सदा पूरा भरोसा नहीं रहता। इन पेड़ों में प्रायः वायवीक जड़ें बैसाखी की तरह सहारा दे उन्हें सँभाले रहती हैं। केवड़े में भी ऐसी जड़ें होती हैं। इसके तने के निचले भाग से निकली जड़ें उसके भार को रोके रहती हैं (चि० ६)।

जुआर (चि० ७) और गन्ने की भाँति के पौधों की साधारण जड़ें कमज़ोर होती हैं, इसलिए इन जड़ों के सहारे पौधे के बोझ का सँभालना कठिन रहता है। अतएव इन पौधों की निचली दो-तीन गाँठों से वायवीक जड़ें निकलकर चारों ओर जमीन में धँस जाती हैं (चि० ७)। ये पौधे के भार को रोके रहती हैं और इस तरह वे आसानी से सीधे खड़े रहते हैं। जिस प्रकार मैदान में झंडा चारों ओर से रस्सियों के बाँध देने से खड़ा रहता है, उसी भाँति जिन पौधों में जड़कुलें होती हैं वे भी आसानी से ज़मीन में स्थापित रहते हैं और वायु के झोकों का उन पर प्रायः असर नहीं पड़ता। कोई-कोई ताड़ की जातिवाले पेड़ों में भी ऐसी जड़ें होती हैं।

पुश्तवान जड़ें (Plank Buttresses)

कुछ ऐसे वृत्त होते हैं, जिनकी मुख्य जड़ें ज़मीन के नीचे अधिक दूर तक नहीं जातीं। इसलिए उनमें तने और शाखों के भार को रोकने के लिए बाहर से सहारा देने की आवश्यकता होती है। इन पेड़ों के निचले भाग तख़्तों की भाँति बाहर उभरे रहते हैं, जिनसे वृत्त को सहारा मिलता है। कभी-कभी ये पुश्तवान बड़े लम्बे-चौड़े होते हैं। ऐसे एक ही तख़्ते से अच्छी ख़ासी मेज़ बन सकती है। ये जड़ें प्रायः ज़मीन के ऊपर इतनी ऊँची निकली रहती हैं कि इनके एक ओर खड़ा आदमी दूसरी तरफ़ के आदमी को आसानी से देख नहीं सकता (चि० ८)। सीलोन या लंका के पैराडिनिया बग़ीचे में एक जाति के पेड़ हैं, जिनकी पुश्तवान जड़ें कई गज़ के फेर में फैली हुई हैं (चि० ८)। सेमल और फाइकस इलैस्टिका में भी ऐसी जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ोंवाले पेड़ भूमध्य-रेखा के निकटवर्त्ती जंगलों में अधिक होते हैं।

साँस लेनेवाली जड़ें

वैसे तो प्रायः सभी पेड़ों की जड़ें किसी-न-किसी अंश तक साँस लेती हैं; परन्तु इस समय हम उन जड़ों पर विचार करेंगे जो विशेषकर इसी काम के लिए साधारण जड़ों में परिवर्त्तन से उत्पन्न होती हैं। साधारण भूमि में मिट्टी के कणों के बीच-बीच स्थान होते हैं जिनमें वायु भरी रहती है। इस वायु से जड़ों को ऑक्सिजन मिलती है। नदी के मुहानों और समुद्र-तट

चित्र ८—पुश्तवान जड़ें

यह सीलोन (लंका) के पैराडिनिया बोटैनिकल गार्डेन्स में विद्यमान एक वृत्त के निचले भाग का चित्र है। (फ़ोटो—श्री गिरिलाल साह)।

की कोई-कोई जगहों पर तथा दलदलों में अकसर जल भरा रहता है, जिसके कारण ऐसी भूमि में वायु नहीं रहती। जो पेड़ ऐसे स्थानों में उगते हैं, उनकी जड़ों को साँस लेने में कठिनाई होती है। ऐसे पेड़ों में वायु प्राप्त करने के लिए एक विशेष भाँति की जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों की प्रकृति के विपरीत पृथ्वी के अन्दर नीचे की ओर न जाकर उल्टे धरती फोड़कर बाहर निकल आती हैं। इन जड़ों में एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसमें वायु भरी रहती है। यही वायु समय पर साँस लेने के काम आती है।
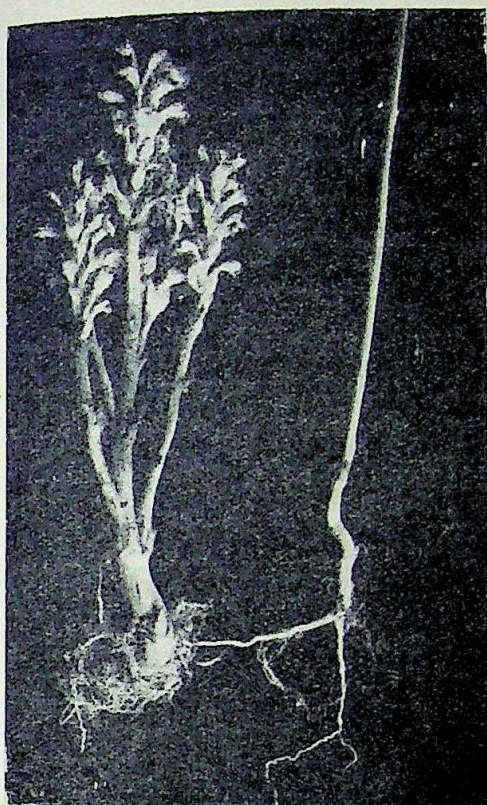
चित्र १०—गँठवा और उसका प्रतिपालक सरसों

जड़ों को खोदकर देखने से पता लगता है कि छिपे-छिपे गँठवा की जड़ें अपने पड़ोसी की जड़ों से किस प्रकार जा मिली हैं। वे इन्हीं से खाद्य रस चूसती हैं। (फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा)

परोपजीवी जड़ें

अमरवेल, गँठवा (चि० ९, १०) और बाँदा (चि० ११) जैसे अनेक पौधे हैं जो अन्य पौधों से खाद्य रस प्राप्त करते हैं। इस समूह के पौधों में पालक या प्रतिपालक (Host) से खाद्यरस ग्रहण करने के लिए विशेष प्रकार की जड़ें होती हैं, जिन्हें हम परोपजीवी जड़ें कहते हैं। ये जड़ें पालक से जा मिलती हैं (चि० १०)। इन दोनों के प्रवाहन-तन्तु आपस में मिल जाते हैं (चि० १२) और इस प्रकार परोपजीवी पौधे पालक से रस ग्रहण करते रहते हैं।

अमरवेल में पर्णहरित नहीं होता, इसलिए इसमें सारे खाद्य रस उसी पेड़ से आते हैं, जिस पर वह उगी होती है। बाँदा की जाति के पौधे, जिन्हें आपने अक्सर आम, शीशम तथा अन्य पेड़ों पर लगे देखा होगा, पालक से जल तथा खनिज लवण ही ग्रहण करते हैं और अपनी हरी पत्तियों द्वारा, अन्य साधारण पौधों की भाँति, वायु से कार्बन प्राप्त करते हैं।
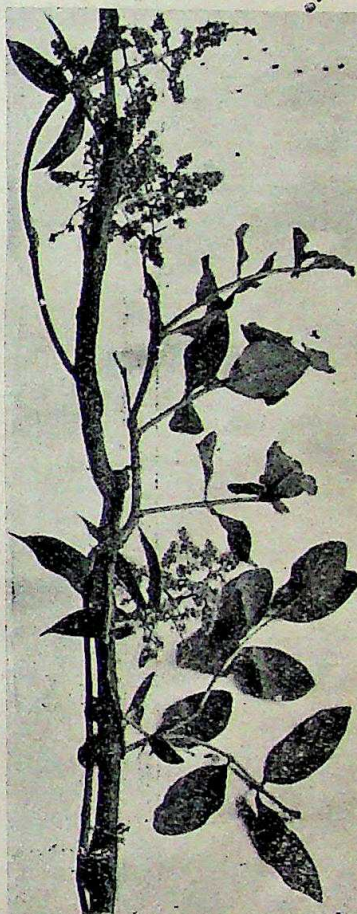
चित्र ११—आम की डाल पर लगा बाँदा

गाँठों के स्थान पर बाँदा की जड़ें आम की शाखा के अन्दर प्रवेश करती हैं। (फ़ोटो—श्री ठाकुर बहादुरसिंहजी)।

संयुक्त प्रान्त में बाँदा आम की एक अति भयानक व्याधि है। अक्सर वह आम के पेड़ों पर बड़ा ज़ोर पकड़ता है। बाँदा के बीजों में एक प्रकार का लसदार पदार्थ होता है, जिसके कारण वे शाखों पर आसानी से चिपक जाते हैं। ये बीज समय आने पर वहीं पर अंकुरित होते हैं। इसकी जड़ से एक प्रकार का रस निकलता है, जो पालक के तन्तु को गला देता है और इस प्रकार बाँदा की जड़ें पालक के तन्तुओं के अन्दर प्रवेश करती हैं। धीरे-धीरे फैलकर बाँदा तमाम पेड़ में पहुँच जाता है और इससे पेड़ को बड़ी हानि पहुँचती है।

गँठवा (इसे सरसों का बाँदा भी कहते हैं) की जड़ें ज़मीन के अन्दर ही पालक की जड़ों से मिली रहती हैं (चि० १०)। बाहर देखने में कुछ पता नहीं चलता (चि० ९)। यह पौधा अक्सर बैंगन, तम्बाकू,

सरसों, आलू, पिटूनिया और नागकेसर की जड़ों पर उगता है। धरती के बाहर मनोहर फूलों से लदी डाली को देखकर भला कौन अनुमान कर सकता है कि यह पौधा छिपे-छिपे पड़ोस के पौधे के साथ विश्वासघात कर उसका सर्वनाश करने में तत्पर है (चि० ६)! गँठवे में पत्ते नहीं होते, इसलिए वह पालक से ही सारे खाद्यरस प्राप्त करता है। बाँदा और अमरबेल की भाँति इसकी जड़ों से भी एक प्रकार का रस निकलता है, जिसके प्रभाव से पालक के तन्तु गल जाते हैं और इसलिए गँठवे की जड़ें अन्दर प्रवेश कर खाद्य रस चूस सकती हैं।

गँठवा की भाँति का एक और पौधा है, जिसे रैफ्लीजिया (*Rafflesia*) कहते हैं। इस पौधे में सूत-जैसी जड़ें और फूल के अतिरिक्त और कोई भी अंग नहीं होता। पृथ्वी के बाहर केवल फूल ही दिखाई देता है, जड़ें अन्दर-अन्दर पालकके तन्तुओं में फैली रहती है। वहीं से वे खाद्यरस खींचती रहती हैं। रैफ्लीजिया आरनेल्डाई का फूल संसार के फूलों में सबसे बड़ा होता है। इसकी गणना वनस्पति-संसार की अद्भुत वस्तुओं में है। फूल की प्रत्येक पंखुड़ी लंबान में एक फ़ुट से अधिक होती है और कुल फूल का वज़न ७-८ सेर के क़रीब होता है।

चित्र १२—अमरबेल और उसका पालक
अमरबेल से अनेक परोपजीवी जड़ें निकलकर उस पेड़ के अंग में, जिस पर अमरबेल फैली रहती है, जा घुसती हैं।

बिना जड़वाले साधारण (नलिकायुक्त) पौधे

साधारण पौधों में एक प्रकार की तालाबों में उत्पन्न होनेवाली काई (यह फूलवाले पौधों में सबसे छोटी होती है) में जड़ नहीं होती। ब्लैडरवर्ट नामक कीटाशी पौधे में जड़ नहीं होती। यह पौधा हमारे पास-पड़ोस के तालाबों और पोखरों में होता है। इसमें जड़ों का काम रोम द्वारा होता है। एक प्रकार का जल-पर्णांग सैलवीनिया (*Salvinia*) में भी जड़ों का कर्त्तव्य विशेष प्रकार के रोमों द्वारा होता है। यह रोम पत्तियों के रूपान्तर से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जड़ों के अभाव में शोषण-क्रिया रोमवत् पत्तियों द्वारा होती है।

राइज़्वाइड्स (Rhizoids)

अभी तक हमने नलिकायुक्त पौधों की जड़ों पर विचार किया है। नलिकारहित पौधों में यथार्थ में जड़ें नहीं होतीं, परन्तु फिर भी रोपण और शोषण दोनों क्रियायें इनमें भी होती हैं। इन पौधों में प्रायः जड़ों का काम रोमों द्वारा होता है। ये रोम बनावट में अत्यन्त सरल होते हैं।

शैवालादि जाति के पौधे प्रायः पानी के अन्दर ही रहते हैं, इसलिए इनमें शोषण करनेवाले विशेष अंग की आवश्यकता नहीं रहती। प्रायः यह क्रिया सारे पौधे द्वारा होती है। रोपण करने के लिए किसी-किसी में रोम (Rhizoids) और किसी-किसी में होल्डफास्ट (Hold-fast) होते हैं। होल्डफास्ट एक विशेष प्रकार का जड़-जैसा अंग है, जो इन पौधों को चट्टानों से जकड़े रहता है। लिवरवर्टस में जड़ों का काम राइज़्वाइड्स द्वारा होता है। ये एककोशीय होते हैं। सम्भवतः ये रोपण और शोषण दोनों ही का काम करते हैं।

मॉसेज़ में राइज़्वाइड्स बहुकोशीय होते हैं। फिर भी इनकी रचना अत्यन्त सरल होती है। ये नलिका या डोरे सरीखे होते हैं। इनकी मोटाई एक कोश से अधिक नहीं होती। पौधों में भी लिवरवर्टस की भाँति रोपण और शोषण दोनों ही क्रियायें राइज़्वाइड्स द्वारा होती हैं। लाइकेन (इनमें छैलछबीला जैसे पौधे हैं) में भी जड़ के स्थान पर राइज़्वाइड्स होते हैं, परन्तु ये विशेषकर रोपण का ही कार्य करते हैं। सम्भव है, किसी-किसी लाइकेन में राइज़्वाइड्स शोषण का भी काम करते हों।

यदि हम नीची कोटि से ऊँची कोटि तक के पौधों की जड़ों पर विचार करें तो देखेंगे कि पेड़-पौधों में क्रमशः श्रम-विभाग की ओर विवर्तन हुआ है। न्यूनकोटीय शैवालादि में समस्त पौधा शोषण का काम करता है। किसी-किसी शैवाल में रोपण के लिए होल्डफास्ट या हैप्टीरा भी होता है। इनसे ऊँची श्रेणी के पौधों यानी ब्रायोफाइटा में राइज़्वाइड्स होते हैं, जो रोपण और शोषण का काम करते हैं। नलिकायुक्त पौधों में जड़ें रोपण का काम देती हैं, और नवल जड़ें और उन पर वर्तमान रोम शोषण का काम करते हैं।

मनुष्य से सबसे अधिक मिलते-जुलते जानवर

वानर-वंश और उसका रहन-सहन

पिछले लेख में हमने जंतु-जगत् पर एक सरसरी नज़र दौड़ाई थी। आइए, अब जीवधारियों की विभिन्न श्रेणियों के मुख्य-मुख्य प्रतिनिधियों से परिचय प्राप्त करें। इस सिलसिले में यह उचित ही है कि हम उन्हीं जीवधारियों को सबसे प्रथम लें जो हमारे सबसे निकट हैं।

जन्तु-जगत् की प्रधानभागीय कक्षा में मनुष्य के बाद सबसे ऊँचे जीवों में कई प्रकार के दुमदार तथा बिना दुमवाले कपि, वन-मानुष, बैबून और अर्द्ध-वानर सम्मिलित हैं। इन सबका वर्णन एक लेख में न हो सकने के कारण कुछ मुख्य का ही उल्लेख हम यहाँ करना चाहते हैं। अधिकतर लोग दुमदार या बेदुमवाले, बड़े और छोटे सभी प्रकार के वन-मानुष, बैबून, मैनड्रिल, लंगूर तथा नाना प्रकार के साधारण बन्दरों के लिए 'वानर', 'बन्दर', 'कपि' शब्दों को बिना किसी भेद के प्रयोग करते हैं; परन्तु वर्त्तमान प्रकृतिवादी चारों प्रकार के बड़े बेदुमवाले वन-मानुषों तथा कुत्तों जैसी सूरतवाले बैबून और मैनड्रिल को शेष सब बन्दरों से अलग गिनते हैं। अतः हमारे लिए भी यही उचित जान पड़ता है कि हम भी इनके लिए अपनी भाषा में भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक शब्द निर्धारित कर लें। अंग्रेज़ी के 'एप' शब्द के स्थान पर 'कपि' और 'मन्की' की जगह 'बन्दर' या 'वानर' शब्द रक्खा जाय। इसी प्रकार 'वन-मानुष' बेदुमवाले बड़े मानवसम कपियों ही के लिए—बैबून, मैनड्रिल को छोड़कर—नियुक्त किया जाय। इस लेख और आगे के लेखों में इन शब्दों का प्रयोग इन्हीं अर्थों के रूप में किया जायगा।

वन-मानुष

वर्त्तमान काल में वन-मानुष पृथ्वी के दो ही भागों में देखे जाते हैं। इनकी दो जातियाँ—गोरिल्ला और चिम्पाञ्ज़ी—अफ़्रीका के महाद्वीप में मिलती हैं और गिब्बन तथा ओरेंग उटांग दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा उसके निकटवर्त्ती द्वीपों में पाये जाते हैं। इन चारों जातियों के वन-मानुषों की शारीरिक रचना और मनुष्य से उनकी समता का वर्णन हम विश्व-भारती' के दूसरे अंक में कर चुके हैं। यहाँ उन बातों को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। केवल इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है कि कपि और बन्दरों के भी मस्तिष्क होते हैं; परन्तु उनके मस्तिष्क उसी अपूर्ण अवस्था में होते हैं, जिसमें कि मानव-शिशु का मस्तिष्क होता है। कपि भी हमारी ही तरह सोचनेवाला ज्ञात होता है लेकिन उसके विचार हमारे विचारों के समान स्पष्ट नहीं बल्कि धुँधले से विदित होते हैं। उसकी गति और क्रियायें भी मस्तिष्क के उसी स्थान से सँभाली जाती हैं जहाँ से हमारी।

सबसे बड़ा वन-मानुष—गोरिल्ला—और उसकी आकृति तथा चाल-ढाल

गोरिल्ला अपने वंश में सबसे बड़ा समझा जाता है और बहुत-सी बातों में मनुष्य से सादृश्य रखता है। बड़े क़द का नर गोरिल्ला ५′ ५″—६′ ६″ तक होता है। उसकी मोटाई—विशेषकर सीने की मोटाई—लम्बाई की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। मादा लगभग ४′ २″ लम्बी होती है। वे मनुष्य से कहीं भारी होते हैं, किन्तु इनका मस्तिष्क साधारण मनुष्य से भी ५ छटाँक हल्का होता है।

देखने में गोरिल्ला अपने वंश के सभी प्राणियों से भयानक और कुरूप होता है। उसका रंग गहरा काला या काला भूरा मिला होता है। उसका सिर बड़ा होता है और मुँह बहुत फट जाता है, जिसमें बड़े-बड़े दाँत दिखलाई देते हैं। उसका माथा लम्बा और आँखें गड्ढे में घुसी हुई छोटी-छोटी होती हैं। उसकी ठोढ़ी पर लम्बे-लम्बे बाल होते हैं। उसकी भुजायें और जबड़े भारी और मज़बूत होते

हैं। उसकी बाँहें टाँगों से बहुत लम्बी होती हैं। यद्यपि वह सीधे खड़ा तो हो जाता है किन्तु वह मनुष्य की तरह नहीं चलता। उसे अपने चारों पैरों से ही चलना पसन्द है। चलते समय वह अपने पैरों के तलवों को तो हमारे ही समान काम में लाता है, किन्तु उसकी हथेलियाँ ज़मीन से नहीं छूतीं। हाथों की उँगलियाँ वह मोड़ लेता है तथा उनके जोड़ों पर ही ज़ोर देकर चलता है। वृक्षों पर चढ़ने में वह अपने पैरों से भी हाथ की तरह काम लेता है। उसकी लम्बी भुजायें धरती पर चलते समय लाठी या बैसाखी का काम देती हैं। वास्तव में यह राक्षसों का एक नमूना है। साथ में दिये चित्र में आप देख सकते हैं कि इसकी आकृति कैसी भयानक होती है।

गोरिल्ला की शक्ति

गोरिल्ला अफ़्रीका के विषुवत् रेखा के पश्चिमी प्रदेश के अज्ञात जंगलों और कैमरून की पहाड़ियों में ही पाये जाते हैं। अफ़्रीका-वासियों ने उनका नाम पौंगो रक्खा है। भीमकाय शरीर होते हुए भी वे पेड़ों पर बड़ी ही सुगमता से गिलहरी की भाँति चल-फिर सकते हैं। अपने वनरूपी मकान की पत्तों से ढँकी हुई छतों पर आनन्द-विभोर होकर ये विचरते रहते हैं और आसानी से इस डाली से उस डाली पर कूद जाते हैं। बहुतेरे यात्रियों ने इनका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है तथा इन भयंकर पशुओं से अपने युद्ध की बड़ी-बड़ी डींगें मारी हैं। एक फ़्रांसीसी शिकारी ने सन् १८६१ ई० में लिखा था कि एक दिन उसने स्वयं देखा कि एक गोरिल्ला ने एक अभागे नीग्रो को एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ से उसकी गर्दन इतनी सरलता से मरोड़ डाली जितनी आसानी से हम किसी मुर्ग़ी के बच्चे की गर्दन मरोड़ सकते हैं! उसी का यह भी कहना है कि गोरिल्ला शिकारियों से बन्दूक़ छीन लेता है और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। उसके दाँत इतने मज़बूत होते हैं कि उनसे वह बन्दूक़ की नाल भी कुचल देता है। ये बातें तो कहानी-सी ही प्रतीत होती हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि गोरिल्ला बड़ा ही शक्तिशाली जीवधारी है। इतना बलवान् होने पर भी वह मनुष्य को देखकर बहुधा भागकर छिप जाता है; परन्तु जब उसके बच्चों पर कोई आक्रमण करता है, या किसी अन्य कारणवश जब उसे क्रोध आ जाता है, तब वह बेधड़क होकर अपने शिकारी पर आक्रमण करता है, चाहे वह कितने ही अच्छे-से-अच्छे हथियारों से सुसज्जित क्यों न हो। गहरी नींद में मग्न गोरिल्ला के भी निकट मनुष्य बेखटके नहीं पहुँच सकते, फिर उनका शिकार करना तो बहुत साहस का काम है!

बेट साहब एक अंग्रेज़ यात्री हैं और गोरिल्ला के निवास-प्रदेश में कई वर्षों तक उन्होंने भ्रमण किया है। उनको इन जीवधारियों की रहन-सहन के अध्ययन करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ है। उनका कथन है कि गोरिल्ला घने जंगलों के बाहर बहुत कम आते हैं, लेकिन कभी-कभी वे हिम्मत करके गाँवों के बाहरी पेड़ों पर फलों के लिए हमला करते हैं। उनके झुंड बाग़ों की बड़ी दुर्दशा कर डालते हैं। गाँव-निवासी इस डर के मारे रोक-टोक नहीं करते कि कहीं फलों की रक्षा के पीछे अपनी जान पर ही न आ बीते। फल, गन्ना, शहद और चिड़ियों के अंडे इन्हें अत्यन्त स्वादिष्ट लगते हैं।

गोरिल्ला का सुखी पारिवारिक जीवन

गोरिल्ला का पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखी और आनन्दमय प्रतीत होता है। वे जोड़ा मिलाकर रहते हैं और जब तक उनके बच्चे अपना अलग घर बसाने योग्य नहीं हो जाते, तब तक हमारी ही तरह वे अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। वे पेड़ों की डालियों को झुका और मोड़कर एक चबूतरा-सा बना लेते हैं, जिस पर छोटी-छोटी डालियाँ और पत्ते बिछा लेते हैं। इस प्रकार पेड़ पर बनाये हुए बिस्तर पर माता अपने छोटे बच्चों के साथ विश्राम करती है। पिता पेड़ के नीचे भूमि पर झाड़-झंखाड़ बिछाकर लेट रहता है या गृह-वृक्ष के नीचे कोई उपयुक्त स्थान ढूँढ़कर बैठा रहता है। रात के समय पिता अपने परिवार की चौकीदारी करता है। जब उसकी बीबी और बच्चे पेड़ पर सोते रहते हैं तब वह नीचे खड़ा हुआ पहरा दिया करता है और ज़रा भी खटका होने पर आक्रमण के लिए प्रस्तुत हो जाता है। वह दृश्य कितना मनोहर होता होगा जब बड़े तड़के माता-पिता और बच्चे अपने भोजन की खोज में डालियों पर कूदते-फाँदते, लटकते और झूलते हुए मीलों दूर निकल जाते होंगे! ये पूर्ण रूप से शाकाहारी होते हैं तथा बाँस की नई और कोमल कोंपलें ही इनके भोजन का प्रधान भाग हैं।

स्वीडेन के एक शिकारी का कहना है कि इनमें सन्तान-प्रेम के अतिरिक्त और भी ऐसी बातें हैं कि जिनमें वे बहुत-कुछ हमारे ही समान हैं। एक समय यह शिकारी अपने साथियों के साथ गोरिल्लों के एक परिवार के सामने आ पड़ा। इन्हें देखकर एक बूढ़े सफ़ेद बालवाले नर गोरिल्ला को छोड़कर बाक़ी सब प्राणी भाग पड़े। गोरिल्लों का यह वृद्ध सर्दार भागनेवालों को बचाने की इच्छा से शिकारियों का विरोध करने
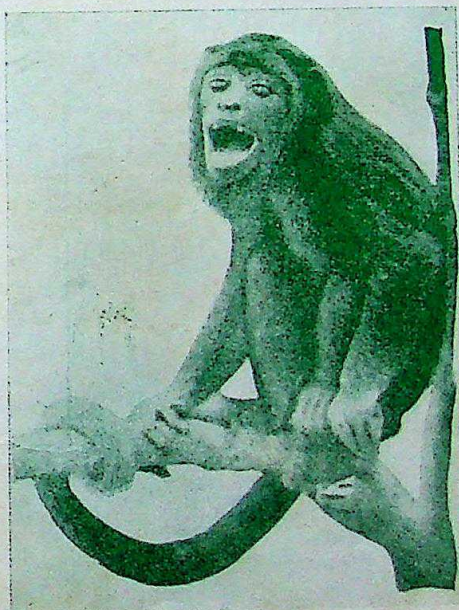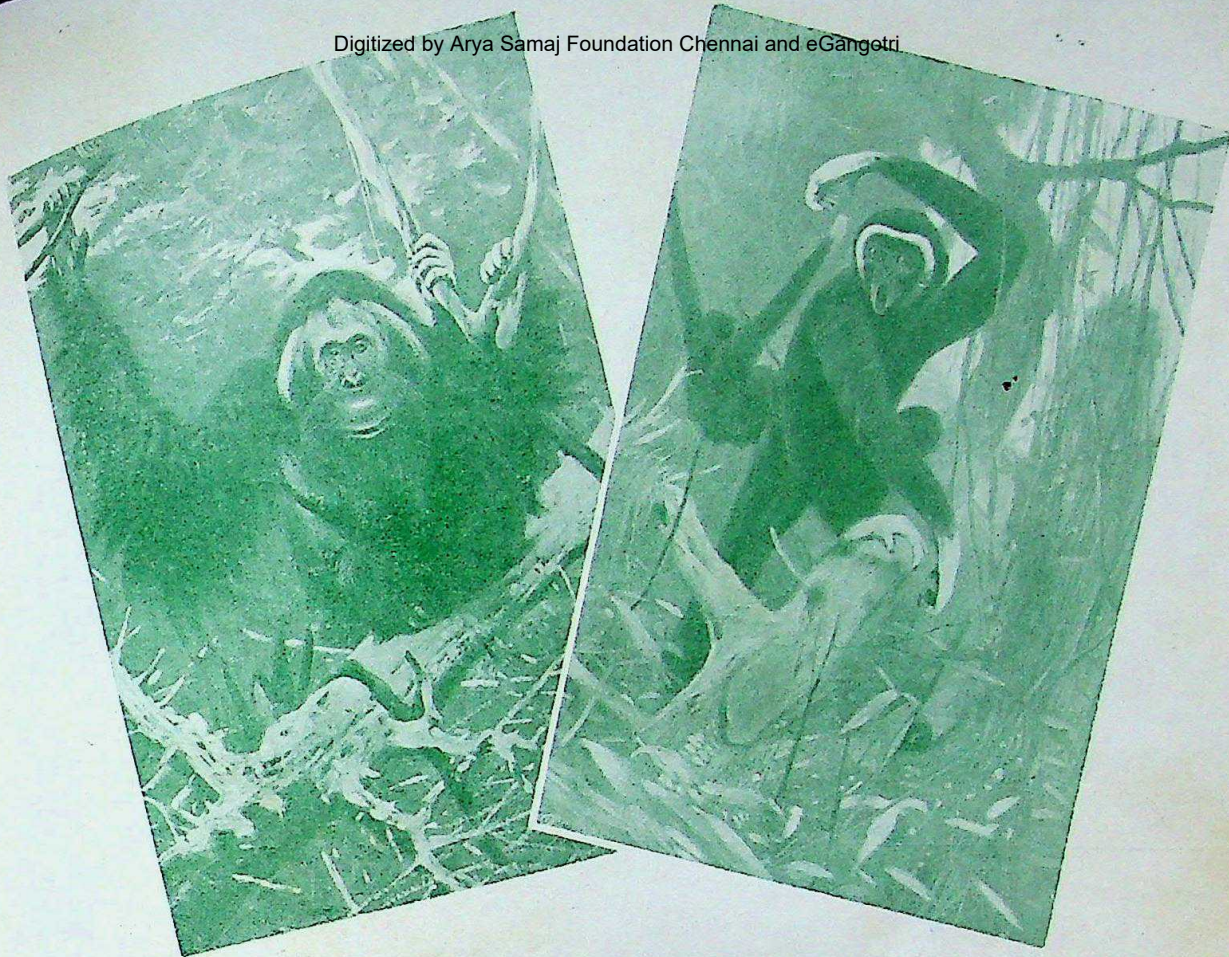
(सबसे ऊपर की पंक्ति में) एशिया के **दो मानवसम कपि या वन-मानुष—** बाईं ओर, भारी भरकम ओरेङ्ग जो सुमात्रा और बोर्नियो के टापुओं में वृक्षों पर रहता है। दाहिनी ओर, हल्के शरीरवाला गिब्बन, जो पृथ्वी पर चलते समय अपनी लंबी भुजाओं को ऊपर उठा लेता, पर पेड़ों पर कूदते समय ३०-४० फीट तक लंबी छलाँग मार लेता है।
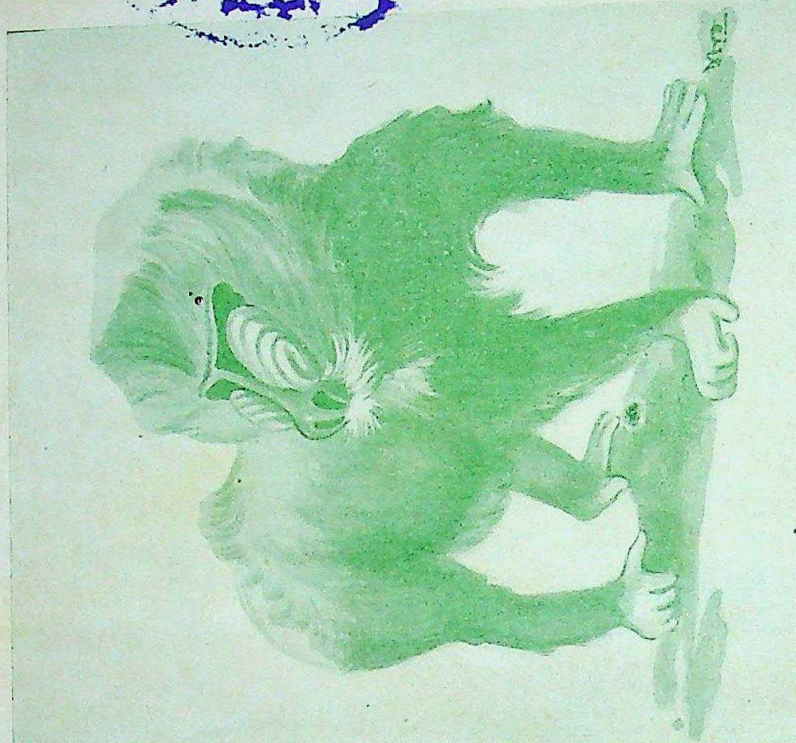
(बाईं ओर) **एक मादा चिम्पेन्ज़ी और उसका बच्चा।** जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, यह जंतु अनेक बातों में मनुष्य जैसा ही आचरण करता पाया गया है। विश्व-भारती के दूसरे अंक के चित्रों में आप चिम्पेन्ज़ी को पहुँच से बाहर के केलों को लेने की तदबीर करते हुए और छुरी-काँटे से खाना खाते और चाय पीते हुए देख ही चुके हैं, जिससे इस जंतु के बुद्धि-विकास का कुछ परिचय आपको हो सकता है। (ऊपर) **वानर-वंश का सबसे चित्र-विचित्र प्राणी मैनड्रिल।**

को आगे बढ़ा और वीरता से तब तक सामना करता रहा जब तक कि वह उनकी बन्दूक़ की गोली का निशाना न बन गया। मनुष्यता के सर्वोच्च गुण या विशेषताओं—प्रेम, कर्त्तव्य, लगन और साहस—का इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण हो सकता है!

एक और विचित्र बात इन कपियों के विषय में यह है कि वे अन्य वानर-वंशों की ही भाँति न तो बात करते मालूम होते हैं और न उनकी तरह चें-चें ही करते हैं। पिता गुस्से में ज़ोर से भूँकता है और आक्रमण करते समय गुर्रा सकता है; माता जोखिम को निकट आते देखकर चीख़ पड़ती है। इन आवाज़ों के तथा खोये हुए बच्चों के करुण आर्त्तनाद के अतिरिक्त इन जीवधारियों में किसी और आवाज़ का होना नहीं मालूम पड़ता।

लन्दन की पशुशाला का जौनी नामक बालक गोरिल्ला

यह जब जंगल से पकड़ा गया था तब केवल एक या दो दिन का ही था। यह छोटे बच्चे की तरह इधर-उधर कूदता-फिरता था और बिल्ली के बच्चे के साथ खेलता था। उसके पास यदि कोई पत्ता खड़खड़ाता तो चौकन्ना होकर उछल पड़ता और फिर हिम्मत करके दूर से उसको उठाकर सूँघता था। गुलगुलाने पर यह ज़ोर से हँस पड़ता और प्रसन्न होने पर ताली बजाता था। दिन भर में उसे जो कुछ फल मिलते थे उनके अतिरिक्त वह ३-४ बोतल दूध और पानी पी लेता था।

आजकल बहुत-से बड़े अजायबघरों में भुस से भरे गोरिल्लों के शव देखे जा सकते हैं, किन्तु जीवित गोरिल्ला देखना सम्भव नहीं है, क्योंकि जंगलों में रहने के ये इतने आदी हो गये हैं कि पकड़कर अजायबघर में बन्द करने से उनका जीवित रहना बहुत ही कठिन हो जाता है। वे वहाँ शीघ्र ही मर जाते हैं। जर्मनी के ब्रैसलौ नगर की जन्तुशाला में एक गोरिल्ला पकड़कर लाया गया था। पकड़ने के समय वह २ वर्ष का था और उस जन्तुशाला में ७ वर्ष से अधिक जीवित न रह सका। अभी तक कोई भी पकड़ा हुआ गोरिल्ला इससे अधिक जीवित नहीं रहा है। लन्दन की पशुशाला में कई छोटे-छोटे गोरिल्ले पकड़कर लाये गये, किन्तु उनमें से एक ही २ वर्ष जीवित रहा और अपने खेल-तमाशों से लन्दन-वासियों को प्रसन्न करता रहा।

सबसे बुद्धिमान् वन-मानुष—चिम्पाञ्ज़ी

दूसरा वन-मानुष अफ़्रीका में पाया जानेवाला चिम्पाञ्ज़ी है। इनकी 'चाय-पार्टी' का एक चित्र हम आपको 'विश्व-भारती' के दूसरे अंक में दिखला चुके हैं। अपने वंश में निस्सन्देह मनुष्य के अतिरिक्त सबसे बुद्धिमान् यही प्राणी है। उसकी आकृति और आकार भी मनुष्य से अधिक मिलते-जुलते है।

चिम्पाञ्ज़ी गोरिल्ला से बहुत छोटे होते हैं। इनमें नर-मादा में भी उतना भेद नहीं होता। इनकी ऊँचाई ४'-५" तक होती है। इनके शरीर भारी, भुजायें विशाल और हाथ-पैर बलिष्ठ होते हैं। इनके दाँत अन्य वन-मानुषों के-से मज़बूत और लम्बे नहीं होते, परन्तु कान बड़े होते हैं और भृकुटियाँ उतनी निकली हुई नहीं होतीं जितनी कि गोरिल्ला की। इनके बाल लम्बे, काले या बादामी रंग के होते हैं तथा चेहरा काला और कुछ-कुछ मांस-जैसे गुलाबी रंग का होता है। चिम्पाञ्ज़ी अपना अधिकांश समय वृक्षों पर ही व्यतीत करते हैं और जब भूमि पर उतरते हैं तो गोरिल्ला के समान आसानी से सीधे नहीं खड़े हो पाते। वे खड़े होकर थोड़ी दूर भाग भी लेते हैं लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि गोरिल्ला और चिम्पाञ्ज़ी आसानी से सीधे खड़े होकर चल-फिर सकते हैं। यह अवश्य है कि वे चौपायों के समान अपनी हथेलियाँ पृथ्वी पर रखकर नहीं चलते, बल्कि हाथों की मुट्ठी बाँधकर उन्हें ज़मीन पर उल्टी रख कर आगे के शरीर का सहारा उन पर देते हुए भली भाँति दौड़ते-भागते हैं।

चिम्पाञ्ज़ी का घर और जंगलों में रहन-सहन

इन कपियों का भी निवास-स्थान अफ़्रीका के विषुवत्-रेखा के निकटवर्त्ती जंगल ही हैं; किन्तु ये गेम्बिया, सिरालियोना से लेकर टैंगानिका झील तक फैले हुए हैं। इनकी बहुत-सी जातियाँ हैं, जिनमें दो मुख्य हैं—एक

असली चिम्पाञ्ज़ी और दूसरे गंजे चिम्पाञ्ज़ी, जिनके लगभग सारे मुँह पर बाल नहीं होते। गोरिल्ला की तरह चिम्पाञ्ज़ी भी वृक्षों पर अपनी शय्या बनाता है, जिस पर उसकी बीवी और बाल-बच्चे सोते हैं। वह उनके निकट उनकी रक्षा के लिए उपस्थित रहता है।

चिम्पाञ्ज़ी का भी भोजन फल और पत्ते ही हैं। ये मांस नहीं खाते, परन्तु अभ्यास कराने से वे मांस भी स्वाद से खाने लगते हैं। उनके मस्तिष्क की रचना अन्य वानरों से उच्च प्रकार की होती है। इसीलिए वे सबसे अधिक बुद्धिमान भी होते हैं। शरीर के किसी स्थान से अचानक रक्त बहने लगने पर वे उस स्थान को अपने हाथों से दबाकर उसको बन्द करने की चेष्टा करते हैं। यदि ख़ून बन्द न हो तो घाव पर घास तोड़कर लगा देते हैं।

उनकी चतुराई

चिम्पाञ्ज़ी बड़े सीधे होते हैं और आसानी से पालतू बना लिये जाते हैं। उनमें सीखने और अनुकरण करने की बड़ी योग्यता होती है। जिन्होंने सीखे हुए चिम्पाञ्ज़ी देखे हैं वे क़रीब-क़रीब मनुष्य की-सी उनकी समझ देखकर दंग रह जाते हैं। हमारे देश में जिस प्रकार मदारी बन्दर का नाच दिखाते हैं उसी प्रकार योरप में चिम्पाञ्ज़ी का तमाशा दिखाया जाता है। उनकी चतुराई का इन बातों से आपको अन्दाज़ हो सकता है कि वे दरवाज़ा खोलना, अपने पिंजड़ों को बुहारना, चम्मच या प्याले द्वारा दूध, चाय आदि पीना ही नहीं सीख जाते, बल्कि साइकिल चलाने और कपड़े पहिनने का भी अभ्यास उन्हें कराया जा सकता है। बच्चोंवाली गाड़ी में एक चिम्पाञ्ज़ी बैठ जाता है और दूसरा उस गाड़ी को घसीटकर चलाता है। कहा जाता है कि उन्हें थोड़ा-बहुत गिनती का भी ज्ञान हो जाता है। वे स्त्री-पुरुष में भी भेद कर लेते हैं और पुरुष की अपेक्षा स्त्री से अधिक नम्रता का बर्त्ताव करते हैं।

एशिया का सबसे बड़ा वन-मानुष—ओरैंग उटाँग

एशिया के वन-मानुषों में ओरैंग उटाँग ही सबसे बड़ा है, किन्तु अफ़्रीका महाद्वीप में पाये जानेवाले गोरिल्ला से यह छोटा होता है। यह एक मनोरंजक बात है कि काले हब्शियों के देश के निवासी गोरिल्ला का रंग भी काला होता है और ओरैंग उटाँग का रंग एशिया के मनुष्यों की तरह मटमैला भूरा होता है। यह विशालकाय वन-मानुष सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीप में ही निवास करता है। 'ओरैंग उटाँग' मलय प्रदेश की भाषा का शब्द है और इसका अर्थ होता है 'वन का मनुष्य'।

इसकी दो नस्लें पाई जाती हैं। साधारण नस्ल के नर ४′-४″ ऊँचे होते हैं तथा मादा इनसे भी कुछ छोटी होती हैं। दूसरी बड़ी नस्ल, जो उत्तरी बोर्नियो में मिलती है, ६′ लम्बी होती है, परन्तु अब यह जाति प्रायः लुप्त-सी हो गई है। गर्नसी के अजायबघर में इस बड़ी नस्ल के ओरैंग का एक नमूना रक्खा हुआ है। यह प्राणी ५′-८″ लम्बा है। उसके सीने की चौड़ाई ५४″, कमर की ४८″ और गर्दन की २८″ है। कहा जाता है कि जब वह हाथ फैलाकर खड़ा होता था तो एक हाथ की उँगली से दूसरे हाथ की उँगली तक का फैलाव ८′—६″ होता था। ओरैंग की गर्दन मोटी होने का कारण यह है कि गर्दन की खाल और मांस-पेशियों के बीच आवाज़ की थैली लटकती रहती है। यह थैली आवाज़ को गुँजाने में सहायता देती है।

ये प्राणी आलसी और भारी डील के होते हैं। इनकी भुजायें लम्बी और बलिष्ठ होती हैं तथा खड़े होने पर टख़ने के निकट तक पहुँच जाती हैं; किन्तु इनकी टाँगें छोटी ही होती हैं और झुकी रहती हैं। ओरैंग का चेहरा भद्दा और बेडौल होता है तथा मुँह का आकार भी बड़ा होता है। भौं और पलकों के दो-चार बालों के अतिरिक्त चेहरे पर बिल्कुल बाल नहीं होते। इनकी नाक चपटी होती है और आँखें व कान छोटे तथा मनुष्यों के-से ही होते हैं। सीने पर कुछ लाल रंग के बाल बिखरे हुए उगते हैं। पीठ, कंधे और जाँघों पर लाल रंग के मोटे-मोटे घने बाल लटकते रहते हैं। ये बाल १०″-१२″ लम्बे होते हैं। ओरैंग के मस्तिष्क के ऐंठन या बल चटख़ और बहुत-कुछ हमारी ही तरह के होते हैं।

इसके हाथ-पैरों से स्पष्ट है कि ओरैंग अपना अधिक समय पेड़ पर ही बिताता है। उनकी शाखाओं पर वह झूलता-कूदता हुआ वैसी ही तेज़ी और चंचलता से चलता-फिरता है जैसे कि हम लोग ज़मीन पर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं। जब वह धरती पर उतरता है तब गोरिल्ला और चिम्पाञ्ज़ी के ही समान मचक-मचककर चलता है। वह फल-मूल और पत्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। ओरैंग नम्र, सीधा-सादा और निर्दोष प्राणी है तथा सहज ही में पालतू बन जाता है। वह मनुष्य पर जल्दी आक्रमण नहीं करता। जगत्प्रसिद्ध जन्तु-भूगोल-वेत्ता वालेस साहब तथा उनके साथियों ने एक बार बोर्नियो के वनों में एक मादा ओरैंग को पेड़ पर बैठे देख उसके निकट पहुँचने का

विचार किया। उन्हें समीप आते देखकर वह वृक्ष की डालियों तथा नारियल के आकार के काँटेदार फलों की १० मिनट तक वर्षा करती रही। बीच-बीच में ग़ुस्से में वह ज़ोर से गुर्राती भी जाती थी। संभवतः उस ओरैंग स्त्री से वालेस साहब के परिचय का अन्त ख़राब न हुआ होगा, क्योंकि उन्होंने इसके बाद का कुछ भी हाल लिखा नहीं है।

बुद्धि और बल के द्वारा अपने पिंजड़े से छुटकारा पाना

ओरैंग बड़ा बलशाली होता है और कहा जाता है कि मगर तक को वह युद्ध में मार डालता है। अजायबघर में पला हुआ ओरैंग कभी-कभी रखवाले का हाथ इतनी मज़बूती से पकड़ लेता है कि हाथ छुड़ाना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। एक ओरैंग में दो मनुष्यों का बल होता है। एक बार एक अजायबघर के ओरैंग ने अपने पिंजड़े के तारों को हाथों से मरोड़ डाला और उन्हें तोड़कर लम्बी-सी छेनी बना ली, जिसे उसने अपने बग़ल के पिंजड़े में फेंक दी। इस दूसरे पिंजड़े का ओरैंग और भी होशियार था। उसने उसी छेनी से अपने पिंजड़े के बहुत-से तार काट डाले और उसके बीच से निकल भागा तथा अजायबघर की छत पर चढ़ गया। जब चौकीदार ने देखा तो सीढ़ी लगाकर वह उस पर चढ़ने लगा। इस पर उस ओरैंग ने ऐसी ज़ोर से पकड़कर सीढ़ी हिलाई कि चौकीदार साहब पृथ्वी पर लुढ़कते दिखाई दिये! थोड़ी देर बाद छत पर से उतरकर वह पेड़ पर पत्तों और डालियों का अपना बिस्तर बनाकर आनन्द की नींद सोया! सुबह बड़ी मुश्किल से फिर से वह पकड़ा जा सका।

लन्दन की जन्तु-वाटिका का सबसे अधिक बुद्धिमान चिम्पाञ्ज़ी—आर्थर

यह अपना कोट और टोप पहिन सकता था और मनुष्य को देखकर बाल भी काढ़ लेता था। कहा जाता है कि यह बड़ी ही सुगमता से काँटे, छुरी और चम्मच से अपना भोजन करना सीख गया था तथा आदमी की ही तरह ताश के पत्ते हाथ में लेकर बड़ी गम्भीरता से फेंकता था।

सबसे छोटा वन-मानुष—गिब्बन—जो छलाँग मारकर वृक्षों पर कूदता फिरता है

अब चौथे प्रकार के सबसे छोटे मानवसम कपि का हाल भी सुन लीजिये। इन्हें हम साधारणतया गिब्बन के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में ये दो प्रकार के हैं—एक असली गिब्बन, दूसरे सियामंग (Siamangs)। गिब्बन सियामंग से छोटे तथा उनकी अपेक्षा सुकुमार होते हैं। ये खड़े होने पर लगभग ३०″ ऊँचे होते हैं, परन्तु सियामंग ३′ या इससे भी कुछ अधिक लम्बे होते हैं। इनकी लगभग एक दर्जन या अधिक उपजातियाँ हिमालय के पूर्वी हिस्से से लेकर ब्रह्मा, मलाया प्रायद्वीप और उसके निकटवर्त्ती द्वीपों में होते हुए चीन के दक्षिणी प्रान्तों तथा इन्डोचीन तक पाई जाती हैं। कपियों में केवल यही ऐसे हैं जो ज़मीन पर सीधे खड़े होकर चलते हैं।

इनका सिर छोटा और गोल होता है। शरीर पर कोमल ऊन के-से बाल होते हैं। इनमें से कोई तो बिल्कुल काले रंग के होते हैं, किन्तु किसी का मुख सफ़ेद होता है और किसी का वर्ण भूरा या हल्का बादामी होता है। इनकी भुजायें इतनी लम्बी होती हैं कि खड़े होने पर हाथ की उँगलियाँ धरती से छू जाती हैं। बाँहों का अगला हिस्सा पिछले भाग से बड़ा होता है तथा पैरों से भी लम्बा होता है। सब वन-मानुषों में से गिब्बन और सियामंग ही उपयुक्त वृक्षवासी हैं। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर और दूसरे से तीसरे पर बड़ी फ़ुर्ती और चपलता से कूदते और छलाँगें मारते हुए ये दूर तक निकल जाते हैं। बीस, तीस या चालीस फ़ीट तक ये कूद जाते हैं। एक हाथ से डाल पकड़कर ज़ोर का झोंका लेते हुए ये ऐसी छलाँग मारते हैं मानो हवा में उड़े जा रहे हों, साथ ही दूसरे हाथ से दूर के दूसरे पेड़ पर जा लगते हैं। इसी प्रकार ये जंगल में वृक्षों पर मनमानी क्रीड़ायें करते फिरते हैं। ये पहाड़ों तथा छोटे-छोटे टीलों पर भी रहते हैं और बैठे-बैठे ही सोते हैं। स्थल पर जब ये मनुष्य की तरह सीधे खड़े होकर चलते हैं तो अपनी लम्बी भुजाओं को ऊपर उठा लेते हैं अथवा गर्दन के ऊपर उन्हें पीछे मोड़ लेते हैं, मानो तेज़ी से चलने के लिए इन्हें अपने शरीर को साधना पड़ता हो।

इनकी आवाज़ बड़ी ही तेज़ होती है। जब कभी दो-चार गिब्बन एकत्र हो जाते हैं तो बड़ा शोर मचाते हैं। इनका भोजन कीड़े-मकोड़े होते हुए भी मांस से ये घृणा करते हैं। जल या अन्य द्रव पदार्थों का सेवन ये बड़ी अनोखी रीति से करते हैं। ये उस पदार्थ में अपने हाथों की उँगलियाँ डुबाकर चाटते हैं। इनका स्वभाव साधारणतया दीन होता है और मनुष्य से इन्हें बड़ा डर लगता है। उसको देखकर ये शीघ्र ही पेड़ पर चढ़ जाते हैं। प्रतीत होता है कि इनका मस्तिष्क अच्छी तरह वृद्धिप्राप्त है। नीचे लिखी हुई कथा से स्पष्ट हो जायगा कि गिब्बन में केवल स्वाभाविक बुद्धि ही नहीं बल्कि विचार तथा विवेक-शक्ति का भी समावेश है। गिब्बनों का अन्य बन्दरों की भाँति यह स्वभाव होता है कि ठिकाने से रक्खी हुई वस्तुओं को तितर-बितर कर दें। वस्तुओं को बिगाड़ने तथा भाँति-भाँति के उपद्रव करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है।

बेनेट साहब का पालतू गिब्बन और उसकी विवेक-शक्ति

बेनेट साहब के पास एक पालतू गिब्बन था, जिसको साबुन की टिकियों से विशेष रुचि थी। मौक़ा पाने पर वह साबुन ज़रूर उठा ले जाता। एक-दो बार साबुन की टिकिया उठा ले जाने पर बेनेट साहब ने उसे बहुत डाँटा। एक दिन उसी कमरे में, जहाँ वह गिब्बन रहा करता था, वह मेज़-कुर्सी लगाकर बैठ गये। जब गिब्बन ने उन्हें लिखने में अत्यन्त तल्लीन समझा तो उसने बेनेट साहब की ओर छिपकर देखते हुए साबुन की ओर हाथ बढ़ाया। बेनेट साहब उसका मतलब समझकर भी नीचे को देखते हुए अपने काम में लगे रहे। गिब्बन ने उन्हें काम में लगा समझकर टिकिया उठा ली और अपनी जगह पर जाने लगा। जब आधी दूर तक पहुँच गया तो उसके स्वामी ने धीमी आवाज़ से प्रश्न करना आरंभ किया। गिब्बन के जी में यह शंका हुई कि उसकी चोरी प्रकट हो गई और वह तुरन्त ही लौट पड़ा और टिकिया को पहले की ही जगह पर रख अपने स्थान पर जा बैठा। इससे क्या यह नहीं प्रकट होता कि इनमें भी मनुष्य-जैसी थोड़ी बहुत बुद्धि अवश्य ही है?

बेबून और मैनड्रिल

अब हम कुछ अन्य मानवसम कपियों का उल्लेख करना चाहते हैं। इन कपियों को हम साधारणतया बेबून या मैनड्रिल कहते हैं, परन्तु इनमें और भी कई नस्लें हैं। इनका मुँह बहुत कुछ कुत्ते-जैसा होता है, इसलिए ये साइ-नोकिफ़ैला (Cynocephala) (कुत्ते की-सी खोपड़ीवाले जीव) के नाम से पुकारे जाते हैं। ये अधिकतर ज़मीन, चट्टानों या टीलों पर ही वास करते हैं और कभी-कभी भोजन की खोज में पेड़ों पर चढ़ते हैं। इकट्ठे होकर समूहों में रहना इन्हें पसन्द है और ये बड़े ही नटखट होते हैं। रात ही भर में ये खेत का खेत साफ़ कर डालते हैं। जब ये किसी खेत पर हमला करते हैं तो इनमें से एक, जो अनुभवी और बड़ा समझा जाता है, पहरे पर खड़ा रहता है। उसके भूँकने से शेष सब समझ जाते हैं कि कोई खटका है और सब उलटे पाँव भाग पड़ते हैं।

बेबून सहारा के दक्षिण में अफ़्रीका के सभी स्थानों में तथा अरब में मिलते हैं। किसी समय भारतवर्ष में भी वे पाये जाते थे। प्राचीन मिस्रवासी उन्हें बड़ा पवित्र समझते थे और उनकी पूजा करते थे। उनकी भुजायें और टाँगें बराबर होती हैं और भुजायें भी टाँगों की तरह काम में आती हैं, मानो वे चौपाये हों। उनकी दुम न बहुत लम्बी ही होती है और न बहुत छोटी ही। किसी-किसी की दुम के छोर पर बालों का गुच्छा होता है। बेबून जब सीधा खड़ा होता है तो उसकी लम्बाई ढाई-तीन फ़ीट होती है। उसकी भृकुटियों की हड्डियाँ उठी होती हैं और आँखें मनुष्य के समान सामने की ही ओर देखनेवाली होती हैं। उसके स्तनों की स्थिति, कंधों की आकृति और भुजायें बिल्कुल हमारे ही जैसी होती है। अतः सुदान के लोग उसे 'निस-निस' कहते हैं, जिसका अर्थ है 'छोटा आदमी'।

ये जीवधारी शरीर में छोटे होते हुए भी बड़े बलवान होते हैं। जे० सीनेल साहब ने लिखा है कि उनके पुत्र के बँगले में एक मादा बेबून रहती थी। वह पालतू थी और सारे बँगले में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमा करती थी। एक दिन उसे यह सूझा कि मकान की सफ़ाई होनी चाहिए। बस फिर क्या था! मालिक भी घर पर न थे। उसने कमरों की सब वस्तुएँ—कुर्सी, मेज़, पलँग, किताबें आदि—उठा-उठाकर बाहर फेंक दीं। इसके लिए उसको सज़ा दी गई और वह पिंजड़े में बन्द कर दी गई।

मैनड्रिल पश्चिमी अफ़्रीका, विशेषतया गिनी तट, का निवासी है। यह बेबून से बहुत बड़ा होता है। खड़ा होने पर यह ५' लम्बा होता है। इसकी दुम २' से अधिक लम्बी नहीं होती और नीचे लटकने के बजाय ऊपर की ओर सीधी खड़ी रहती है। इसकी भौं के ऊपर की हड्डियाँ उठी हुई होती हैं। इसका चेहरा भारी, भौंहें ऊँची और आँखें गड्ढे में बैठी हुई होती हैं। इसके शरीर का रंग

बैबून से गहरा होता है। ऊपरी भागों में बाल नरम और जैतूनी खैरे रंग के होते हैं तथा नीचे के भागों में उससे कुछ हल्के रंग के होते हैं। चेहरे, हाथ तथा पैरों पर बाल नहीं होते, पर कनपटी के बाल ऊपर को चोटी की भाँति उठे रहते हैं। इनकी दाढ़ी पीली होती है।

मैनड्रिल नरों का चित्र-विचित्र शृंगार मादाओं को मोहित कर लेता है

मैनड्रिल की वेश-भूषा में सबसे अनूठी बात नर-मैनड्रिल का चटकीला रंग है। उसकी दाढ़ी पीली और चोटी काली होती है। चेहरा ऊपर से लेकर नाक तक गहरा नीला और बैंजनी होता है। बीच-बीच में नन्हें-सी होती हैं जिनसे धारियाँ-सी पड़ जाती हैं। चेहरे के बीचोबीच में माथे के बीच से लेकर नाक की कोर तक गहरे लाल रंग की रेखा होती है, जिससे चेहरे की शान और भी बढ़ जाती है। जबड़े पर गुलाबी और बैंजनी रंग के धब्बे होते हैं। इनके चेहरे पर ही ऐसे रंग नहीं होते बल्कि पीछे की ओर चूतड़ों पर तथा जाँघ में भी भीतरी ओर चटख सिंदूरी रंग का चर्म होता है। इसके विचित्र रंगों के कारण किसी ने कहा है कि इसके चेहरे पर सूर्योदय का तथा पीछे की ओर सूर्यास्त का दृश्य दिखलाई पड़ता है। पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नरों में ही इस प्रकार का चित्र-विचित्र शृंगारमय रूप होता है। स्त्रियों और बच्चों को ये आकर्षक रंग प्राप्य नहीं हैं। वृद्ध होने पर पुरुषों में ये रंग फीके पड़ जाते हैं। इससे डार्विन साहब का यह विचार है कि इनका यह रंगीन शृंगार स्त्रियों को मोहित करने में उपयोगी होता है, अर्थात् प्रकृति ने उसे बिल्कुल व्यर्थ ही नहीं बनाया है।

मैडागास्कर-निवासी अर्द्ध-वानर (लीमर)

नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों में क्या भेद है?

मैकाके और जिब्राल्टरवाले कपि आदि को छोड़ अब हम आपको असली बन्दरों का हाल बतलायेंगे जो नई और पुरानी दोनों ही दुनिया के देश-देशान्तरों में फैले हुए हैं। आप सभी ने मामूली बन्दर और लंगूर अवश्य ही देखे होंगे। शायद आप उनकी शैतानियों और मसखरेपन से भी अनभिज्ञ न होंगे। जब वे अपने छोटे-छोटे हाथों में केला या आम पकड़कर खाते और मदारियों के सिखाने से नाचते, कपड़ा पहनते और ठाट से मोढ़े पर बैठकर सलाम करते या दौड़कर दर्शकों के पैर छूते हैं तो वे कैसे मानुषिक जान पड़ते हैं! वे अपने पिछले पैरों को हमारी तरह चलने के काम में नहीं ला सकते, किन्तु वे अपने पैरों से भी हाथों के समान चीज़ों या डालियों को पकड़ सकते हैं। हमारे पैरों में यह शक्ति नहीं होती। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उनके दो पैर और दो हाथों के बजाय चार हाथ होते हैं।

कदाचित् आप यह सोचते हों कि बन्दर तो सब एक-से ही हैं चाहे वे नई दुनिया के हों चाहे पुरानी दुनिया के; किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उनमें बड़ा भेद है। पुरानी दुनिया के बन्दरों के नथुने पास-पास होते हैं; उनके गालों में खाद्य पदार्थों को भरने के लिए थैलियाँ होती हैं; उनके हाथों में ठीक अँगूठे होते हैं और वे अपनी दुमों का शरीर साधने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार प्रयोग नहीं कर सकते। नई दुनिया के बन्दरों के नथुने एक दूसरे से दूर होते हैं; उनके गालों में खाना भरने की थैलियाँ नहीं होतीं और न उनके हाथों में ठीक अँगूठे ही होते हैं। उनमें से बहुतेरे अपनी दुम को हाथ के समान डालियों को पकड़ने के काम में ला सकते हैं, मानो वह उनका पाँचवाँ हाथ हो। इन भेदों के अतिरिक्त नई दुनियावाले वानरों में पिछला धड़ कभी लोम-हीन या गहरे रंग का नहीं होता। बन्दरों की बहुतेरी जातियाँ हैं, जिनका वर्णन करने के लिए एक पूरे ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ हम पुरानी तथा नई दुनिया के दो एक बन्दरों का बहुत-ही संक्षिप्त वर्णन करके अपना लेख समाप्त करना चाहते हैं।

पुरानी दुनिया की सात जातियों में सर्वश्रेष्ठ—लंगूर

पुरानी दुनिया के बन्दरों में सर्वश्रेष्ठ लंगूर है, जिससे सभी भारतीय परिचित हैं। हिन्दू तो इन्हें पवित्र मानते हैं और इनकी एक उपजाति को हनुमान कहते हैं। सब स्वतन्त्र बन्दरों में ये सबसे जल्दी पालतू बन जाते हैं और वन में भी मनुष्य को अपना मित्र समझते हैं। हनुमान लंगूरों के

विषय में यह विख्यात है कि कई मादाओं के बीच में एक ही नर होता है। कहा जाता है कि पूर्ण नर छोटे नरों से घृणा करते हैं और अवसर पाने पर उन्हें मार डालते हैं, किन्तु मातायें अपने छोटे बच्चों को जंगल में ले जाकर रखती हैं और वहीं छिपाकर उनका पालन-पोषण करती हैं। जब वे बड़े और सुदृढ़ हो जाते हैं तो वापस आकर अपने जीवन तथा नेतृत्व के लिए अन्य पुरुषों से लड़ते हैं। इससे बढ़कर इन मन्द बुद्धिवाले बन्दरों में मातृ-प्रेम का और क्या दृष्टान्त हो सकता है कि मातायें अपने बच्चों की रक्षा के ख़ातिर अपने स्वामी और साथियों को छोड़ निर्जन वन में भयंकर पशुओं के बीच जोखिम में रहती हैं!

नई दुनिया के वानरों में से तीन विचित्र प्राणी

नई दुनिया के वानरों की १० बड़ी जातियाँ हैं। उनमें से एक अत्यन्त मनोहर बन्दर मार्मोसेट है, जो केवल गिलहरी के बराबर बड़ा होता है और जिसे लोग बच्चों के खेलने के लिए पालते हैं। इसका स्वभाव बड़ा सीधा होता है। यह जब प्रसन्न होता है तब तो हँसता है और उदास होने पर आँसू बहाता है। मानव बालकों के समान ही वह नटखट होता है। उसके ३२ दाँत होते हैं तथा शेष वानरों के ३६ होते हैं। उसके काले चेहरे के बीच सफ़ेद नाक बड़ी ही खिलती है। कानों में भी सफ़ेद बालों के गुच्छे होते हैं। नई दुनिया का एक और विचित्र बन्दर है, जिसका नाम 'मकड़ी बन्दर' है। वह काला तथा दुर्बल शरीर का होता है। उसके हाथ-पैर भी लम्बे पतले होते हैं। वह अपनी दुम से वृक्षों को पकड़कर उसी के सहारे लटकता और कूदता फिरता है। तीसरी प्रकार का मनोरंजक बन्दर इन दोनों से बहुत बड़ा होता है और दक्षिणी अमेरिका में मिलता है। इसको 'गुर्रानेवाला बंदर' कहते हैं; क्योंकि इसकी गुर्राहट इतनी तेज़ होती है कि मीलों तक सुनाई पड़ती है। ये बंदर इतने दिनों से इतनी ज़ोर से चिल्लाते रहे हैं कि उनके गले उनकी सहायता करने के लिए बहुत बड़े हो गये हैं। इस अपूर्व बात के अलावा उनकी आकृति बड़ी भोंड़ी होती है। इनकी मादायें छोटी होती हैं और उनमें चिल्लाने की शक्ति नरों के समान तेज़ नहीं होती।

अर्द्ध-वानर, प्रधानभागीय कक्षा का सर्वप्रथम प्राणी

लीमर या अर्द्ध-वानर (जिसका चित्र पिछले पृष्ठ पर दिया है) का विकास भी उसी उद्गमस्थल से हुआ है कि जिससे सारे बन्दर और कपियों ने जन्म लिया है। आजकल इनके रहने का स्थान मैडागास्कर द्वीप है, किन्तु उनकी दो एक जातियाँ अफ़्रीका की भूमि पर भी पाई जाती हैं। भूगर्भ-वेत्ताओं तथा वैज्ञानिकों का मत है कि मैडागास्कर और अफ़्रीका की भूमि पहले मिली हुई थी। उसी समय ये अर्द्ध-वानर वहाँ फैल गये। बीच की भूमि जल-मग्न हो जाने से मैडागास्कर अफ़्रीका से अलग हो गया और ये जीव विकास के उस चक्र से बचे रहे, जिसमें फँसकर अफ़्रीका के अन्य जीवों ने उन्नति की। यही कारण है कि वे अब तक वहाँ इतनी बड़ी संख्या में बचे रह गये हैं। लीमर कई रंग और आकार के होते हैं। कुछ छोटी लोमड़ियों-जैसे और कुछ नेवले, चुहियों और गिलहरी जैसे होते हैं। परन्तु इनमें सबसे अद्भुत एक जीव है जो 'एई-एई' कहलाता है। उसके दाँत ख़रगोश-से होते हैं। उसकी बीच की उँगली भी बड़ी अनोखी होती है, जिसके सिरे पर एक टेढ़ा नख होता है। इसकी सहायता से वह पेड़ों की छाल में चिपटे हुए कीड़ों को निकालकर खा जाता है।
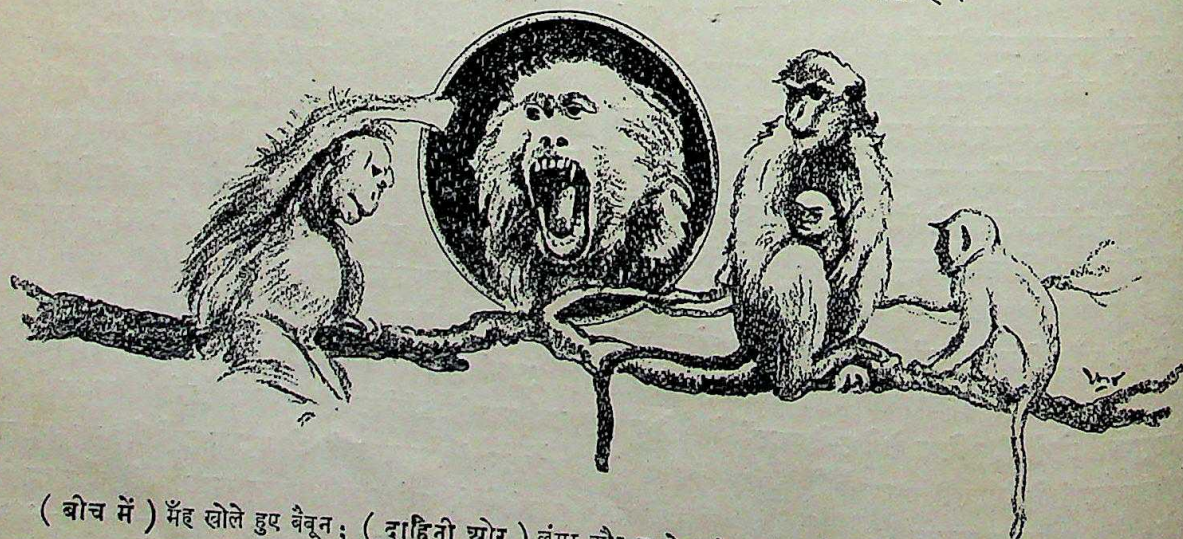
(बीच में) मुँह खोले हुए बैबून; (दाहिनी ओर) लंगूर और उसके बच्चे; (बाईं ओर) औरंग उटाँग का बच्चा।
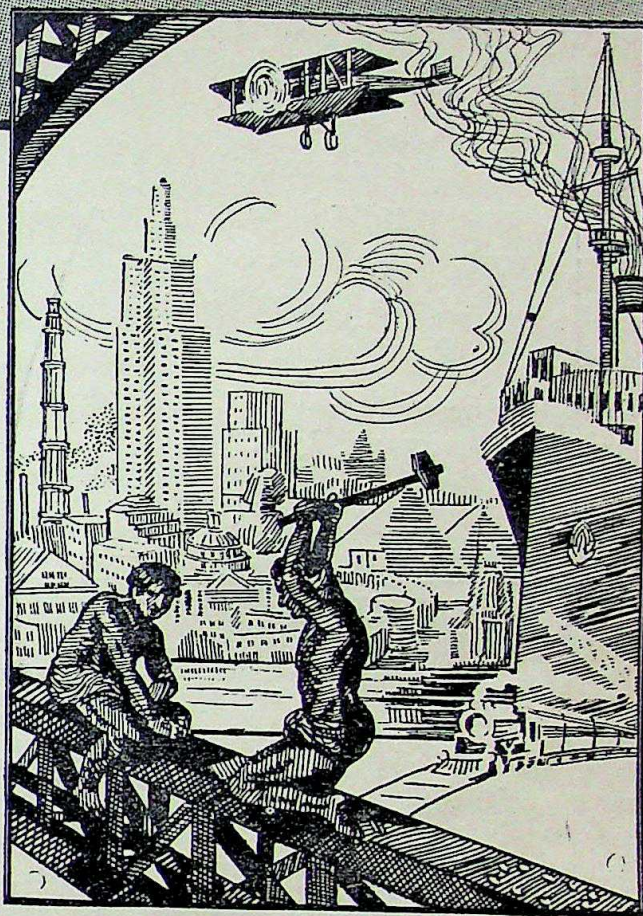
मनुष्य की कहानी

ऑस्ट्रेलिया का जंगली काला मनुष्य और उसका लम्बा भाला तथा टेढ़ी बूमैरंग

यही उसके अचूक अस्त्र हैं। बूमैरंग एक विचित्र झुका हुआ नोकीला लकड़ी का शस्त्र होता है, जो प्रायः २०-३० इंच लम्बा, २-३ इंच चौड़ा और आधे इंच मोटा होता है। वह इस प्रकार फेंका जा सकता है कि हवा में अद्भुत रूप से चक्कर लगाते हुए उसी जगह लौट आता है, जहाँ से कि वह फेंका जाता है। चित्र में आप देख सकते हैं कि ये लोग क्या पहनते हैं और अपने शरीरों को रंग से किस प्रकार पोते रहते हैं। नीचे के चित्र में इनके अस्थाई भद्दे गृह भी दिखलाई दे रहे हैं।
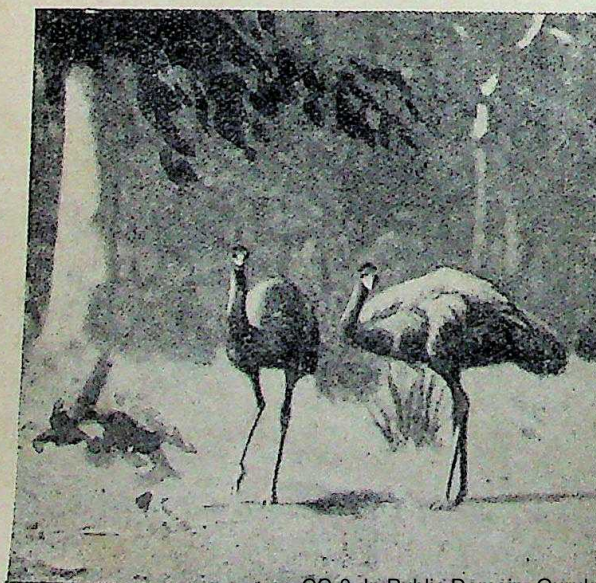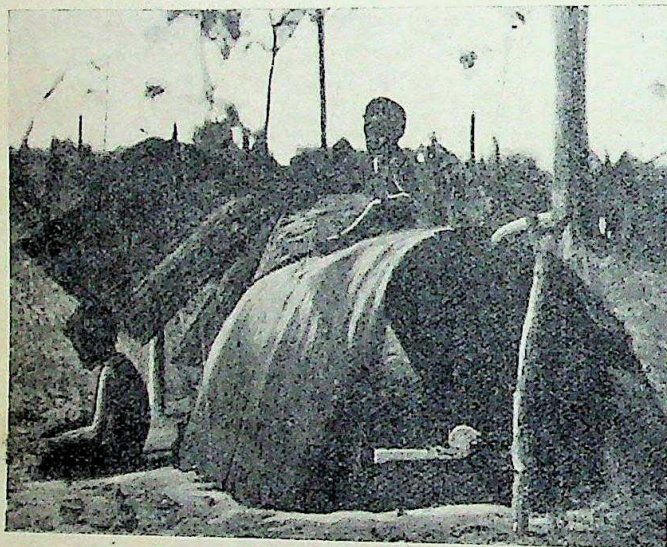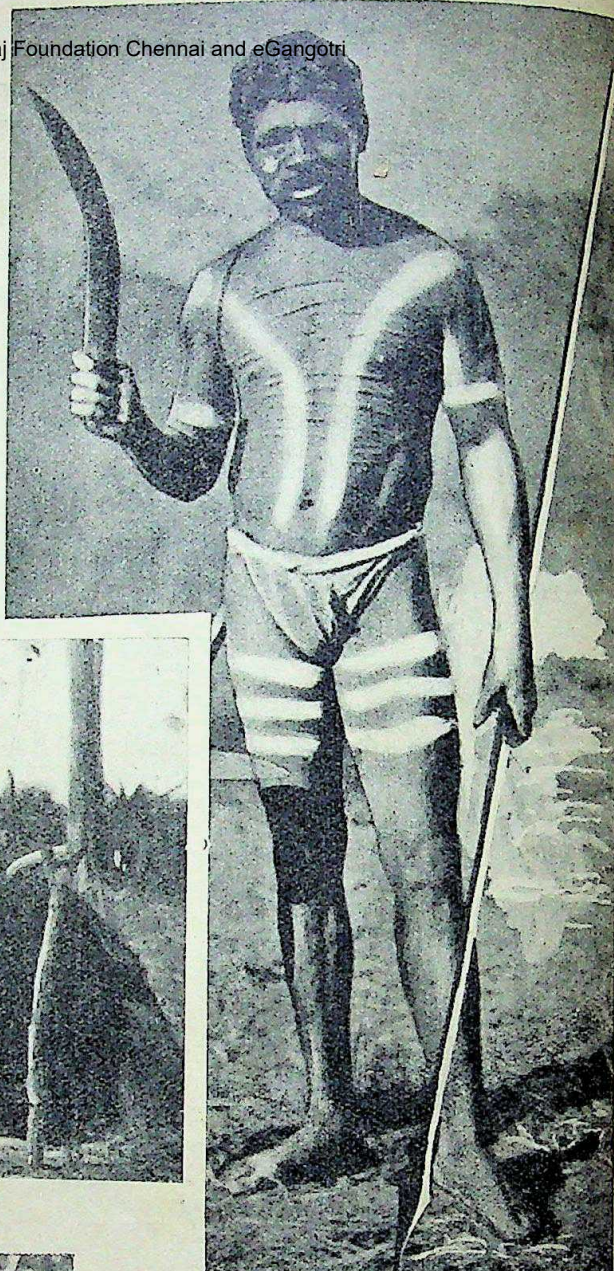
ईमू का एक जोड़ा

ये शुतुर्मुर्ग को छोड़कर सबसे बड़ी चिड़िया हैं। परों के बहुत छोटे होने के कारण ये उड़ नहीं सकते, किन्तु तेज़ दौड़ने और लात मारने की शक्ति पर अपने बचने का भरोसा रखते हैं। ऑस्ट्रेलिया के आदि-मनुष्य कैसे छल करके सहज में इनका शिकार कर लेते हैं, इसका हाल आप अगले पृष्ठ के लेख में पढ़ेंगे।
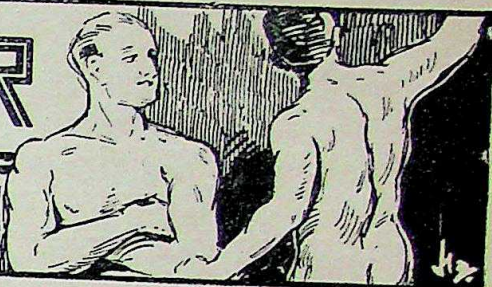
कुछ वर्त्तमान मनुष्य-जातियाँ जो अब भी प्रस्तर-युग की ही सभ्यता में रह रही हैं

हमारी दुनिया बड़ी ही रमणीक है। इस पर बहुत-सी मनुष्य-जातियाँ बसी हुई हैं। इनके स्वभाव, रहन-सहन और वस्त्रादि भिन्न-भिन्न हैं। कोई बहुत ही गोरे, सुंदर और सुडौल शरीरधारी हैं; कोई काले, कुरूप और भद्दे डीलवाले हैं। कोई विशाल, आलीशान २०-२५ मंज़िल ऊँचे सुन्दर मकानों में सुखपूर्वक रहते हैं, कोई निर्जन वन में अपने हाथ से बनाई हुई झोपड़ी में ही जीवन व्यतीत करते हैं। आज-कल भी, जब हम सभ्य होने का दावा करते हैं, प्रत्येक महाद्वीप में ऐसी जंगली जातियाँ हैं, जो सभ्यता के मार्ग पर उतनी ही पिछड़ी हुई हैं जितने की ३०-४० हज़ार वर्ष पूर्व के हमारे पूर्वज थे। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इनके लिए अब भी पृथ्वी पर पाषाण-काल ही है। इस लेख में इन्हीं जातियों से सरसरी तौर से हम आपका परिचय करायेंगे।

ऑस्ट्रेलिया के आदि निवासी—जो सबसे जंगली समझे जाते हैं

जब अंग्रेज़ों ने ऑस्ट्रेलिया पर पहले-पहल अधिकार जमाया और वहाँ अपनी बस्तियाँ क़ायम कीं, तब उन्होंने वहाँ के असली निवासियों को उसी प्रकार जीवन बिताते पाया जैसे कि पाषाण-काल में मनुष्य जीवन व्यतीत करते थे। ऑस्ट्रेलिया के ये आदिम निवासी संख्या में घटते जा रहे हैं, किन्तु मध्य और उत्तर के बीहड़ प्रदेशों में अभी अधिकता से—लगभग ६०००० की संख्या में—पाए जाते हैं। इनकी खोपड़ी लम्बी और नीची, और शक्ल-सूरत अफ़्रीका के हब्शियों से मिलती-जुलती होती है। इनका क़द मध्यम या ऊँचा होता है तथा सिर के बाल मोटे, घने और घुँघराले होते हैं। ये गहरे कत्थई या काले वर्ण के होते हैं तथा इनकी बुद्धि बहुत ही मन्द होती है। इन्हें खेती-बारी का काम बिलकुल नहीं आता, न धातुओं का ही इन्हें कुछ ज्ञान है। पहले ये बिल्कुल ही नंगे रहते थे, केवल शीतकाल में खाल के टुकड़ों से अपने शरीर को ढकते थे, परन्तु अब कुछ कपड़े भी पहनने लगे हैं।

मन्द बुद्धिवाले होते हुए भी ये लोग ज़बरदस्त शिकारी हैं; क्योंकि शिकार पर ही उनका जीवन निर्भर है। ये धनुष-बाण का भी प्रयोग नहीं कर पाते हैं। इनके हथियार केवल भाले और डण्डे ही हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग एक झुकी हुई नोकदार लकड़ी के हथियार का भी प्रयोग करते हैं, जिसको बूमैरैंग (Boomarang) कहते हैं। शिकार पर ही निर्भर रहने के कारण इनकी शिकारी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। जिन जानवरों का ये शिकार करते हैं, उनके स्वभाव से ये भलीभाँति परिचित हैं। जानवरों की बोलियों की ये इतनी अच्छी तरह नक़ल करते हैं कि स्वयं जानवरों को धोखा हो जाता है। ऑस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध ईमू नामक पक्षी का शिकार ये बड़ी ही बुद्धिमानी से करते हैं। सदियों पहले से ही इन लोगों ने यह जान लिया था कि ईमू एक बड़ी ही अनुवीक्षणशील चिड़िया है, इसलिए दो आदमी मिलकर विशेष रीति से उसका शिकार करते हैं। एक आदमी तो गड्ढा खोदकर कमर तक उसमें घुस जाता है और अपने शरीर के ऊपरी हिस्से पर ईमू की खाल ओढ़ लेता है; दूसरा पास की झाड़ी में छिप जाता है और वहाँ से ईमू की बोली बोलता है। इधर गड्ढेवाला आदमी अपने शरीर को विचित्र ढंग से चारों ओर हिलाता रहता है। यदि निकट ही ईमू होते हैं तो इन शिकारियों की बोली को सुनकर दौड़ आते हैं और हिलते हुए मनुष्य को अपना ही

साथी पत्नी समझते हैं। यह समझकर कि वह किसी दुःख या कष्ट के कारण हिल रहा है, उसके दुःख का कारण जानने की इच्छा से वे उसके निकट जाते हैं। ज्योंही वे उसके निकट पहुँचते हैं, वह आदमी अपना भाला फेंककर उन्हें मार डालता है। इनकी समझदारी का एक और उदाहरण सुनिये। जब कभी इन्हें कोई शहद की मक्खी दिखलाई पड़ती है तो उसके छत्ते का पता लगाने के लिए ये उसमें कोई रेशा या धागे की-सी चीज़ चिपका देते हैं और फिर देखते रहते हैं कि वह किस ओर जाती है।

जब इन लोगों को कोई अच्छा शिकार नहीं मिलता है तब ये जड़, कीड़े, मकोड़े चींटी आदि सब कुछ खा लेते हैं। इनका सारा समय शिकार में ही व्यतीत होता है, फिर भी अपने मन-बहलाव के लिए नाचते हैं। इनके नाच में दो प्रकार के भावों का प्रदर्शन होता है—शिकार-संबंधी और युद्ध-संबंधी। कपड़े तो ये लोग पहनते नहीं हैं, परन्तु अपने शरीरों को भिन्न-भिन्न रंगों से रँग लेते हैं। शिकारी नृत्य में शिकार के ही ढंगों को प्रकट करते हैं, तथा युद्ध-नृत्य में दो दलों में युद्ध दिखलाते हैं।

ऑस्ट्रेलिया के प्राचीन देश-वासियों का युद्ध-नृत्य में मस्त एक समूह

बीच में विचित्र भेष धारण किये हुए तथा निराले वस्त्र पहने हुए सबका अगुआ है।

कुछ द्वीपों की असभ्य जातियाँ

प्रशान्त सागर के प्रसिद्ध द्वीप हवाई की स्त्रियाँ पहले घास के लहँगे ही पहना करती थीं। अब भी हर समय नहीं तो 'हूला' नृत्य नाचने के समय तो ये घास के ही लहँगे पहनती हैं। फ़िलिपाइन्स द्वीप-समूह के आदिम निवासी भी अपना जीवन पशुओं का शिकार करके ही बिताते हैं। कपड़े वे भी बहुत कम या नहीं के बराबर ही पहनते हैं।

अंडमन द्वीप के निवासी जल-जन्तुओं और शहद को खाकर ही अपनी गुज़र करते हैं। वे न जानवर पालते हैं और न आग जलाना ही जानते हैं। पुरुष कुछ भी कपड़ा नहीं पहनते और स्त्रियाँ नाममात्र के लिए कमर से छोटा-सा घास का लहँगा लटका लेती हैं।

लंका में अब भी एक प्राचीन जाति के मनुष्य रहते हैं, जिन्हें 'वेद्दा' कहते हैं। लंका की ५३ लाख की जन-संख्या में अब ये केवल ३५०० ही रह गये हैं और वहाँ के दक्षिणी-पूर्वी भाग में ही मिलते हैं। इनके शस्त्रों में केवल लम्बा धनुष और बाण हैं। ये मछली, शहद और शकरकंद के अतिरिक्त अपने शिकार किये हुए जानवरों पर भी जीवन-निर्वाह करते हैं।

अफ़्रीका के काले बौने

एक और आदिम जाति अफ़्रीका के जंगली बौनों की है, जो ऑस्ट्रेलिया के काले आदमियों की भाँति लकड़ी-से-लकड़ी रगड़कर आग बनाते हैं। ये भद्दी-सी झोपड़ियों में या पृथ्वी में गड्ढे खोदकर रहते हैं। ये अधिकतर विषुवत् रेखा के निकट कौंगो के घने जंगलों में रहते हैं। क़द में ये अधिक-से-अधिक ४ फ़ीट ६ इंच होते हैं। इनके सिर के बाल छोटे, घुँघराले और काले होते हैं। इनका रंग बहुत काला होता है। शरीर के मुक़ाबले में इनके सिर

अधिक बड़े होते हैं। ये लोग अधिकतर कपड़े नहीं पहनते, परन्तु अपरिचितों के सम्मुख अपना शरीर भोजपत्र, पत्ते या खाल से ढक लेते हैं।

ये बौने शिकार पर ही निर्भर करते हैं और अपना शिकार कमान और विषैले तीरों से करते हैं। अफ़्रीका के बड़े-से-बड़े जानवर इनके तीरों से घायल होकर कुछ ही घंटों में मर जाते हैं। जब कभी ये किसी बड़े जीव को मार लेते हैं तो बड़ी ख़ुशी और दावत मनाते हैं। ये लोग छोटे होते हुए भी खाने में बहुत तेज़ होते हैं। एक पूरे ज़ेबरे को छः आदमी ख़त्म कर डालते हैं। मछली और शहद भी इनके खाद्य पदार्थों में सम्मिलित हैं। शहद इनको अत्यंत प्रिय है। उसे प्राप्त करने के लिए ये ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ों पर चढ़ जाते हैं। ये खेती - बारी बिलकुल ही नहीं जानते, किन्तु जड़ों को खोदकर खाते हैं। इन्हें यह भी मालूम हो गया है कि किस फल का खाना इनके लिए लाभदायक है और किसका हानिकारक। शिकार, कन्द-मूल और फलों की ही खोज में मस्त रहने के कारण इनको प्रकृति के विषय में अच्छा अनुभव है। शुतर्मुर्ग़ के अंडे ही इनके बर्त्तन हैं। उन्हीं में वे पानी भरकर रखते हैं और उन्हीं में खाना खाते हैं।

एक बात में ये लोग ऑस्ट्रेलिया के आदिनिवासियों से बढ़े-चढ़े हैं। ये चित्रकारी भी जानते हैं। ये लोग गुफाओं की दीवारों पर स्त्री-पुरुष और जीव-जन्तुओं के काले, पीले, लाल, और सफ़ेद रंगों में चित्र बनाते हैं। चित्रकला तथा विषैले तीर बनाने तक ही इनकी कारीगरी सीमित है, यद्यपि कहीं-कहीं अपने पड़ोसी पहाड़ी हब्शियों

'हूला' नृत्य नाचनेवाली हवाई द्वीप की नारी

जो लम्बी-लम्बी घास के डंठलों का लहँगा पहने हुए है। एक समय था कि ये इन लहँगों के अतिरिक्त कुछ नहीं पहनती थीं, किन्तु सभ्यता के प्रमुख में आकर इन घास के लहँगों को अब ये छोड़ती जा रही हैं। अब वे इन्हें केवल नाच या अन्य उत्सवों के समय ही पहनती हैं।

के हस्त-कौशल की ये कुछ-कुछ नक़ल करने लगे हैं। लोहे की जो कुछ चीज़ें वे काम में लाते हैं वे अन्य जातियों से शहद, मांस, रस्सी इत्यादि के बदले में लेते हैं। कहा जाता है कि ये लोग व्यवहार में बहुत ही सच्चे और ईमानदार होते हैं। जब कभी उन्हें केलों की आवश्यकता होती है तो किसी हब्शी की बाड़ी में जाकर केले खा लेते हैं और उनके मूल्यस्वरूप पेड़ में उतना ही गोश्त बाँध आते हैं। इनके घर स्थिर नहीं होते। ये अपनी विचित्र गोल झोपड़ियाँ केवल ३ फ़ीट ऊँची बनाते हैं। इसके लिए पेड़ की डाल काटकर उसका मोटा सिरा पृथ्वी में गाड़कर दूसरे सिरे को भी झुकाकर गाड़ देते हैं और इस अर्द्ध-वृत्ताकार लकड़ी को घास-फूस से ढक देते हैं। ये पृथ्वी में एक गड्ढा बना लेते हैं। इसी में वर्षा और धूप से रक्षा पाने के लिए घुस जाते हैं। इनकी झोपड़ियाँ इतनी छोटी होती हैं कि ये उनमें सीधे खड़े नहीं हो सकते। झुककर हाथ-पैरों से चलकर ये भीतर पहुँच जाते हैं। जब कोई बहुत बड़ा जानवर मार लेते हैं तो उसको अपने घर में लाने के बजाय अपना घर ही उसके पास ले जाते हैं।

लंका के असभ्य मनुष्य जो 'वेद्दा' कहलाते हैं

ये जंगलों की गुफाओं या चट्टानों की शरण में रहते हैं, परन्तु कभी-कभी पत्तों के झोपड़े भी बना लेते हैं। तीर-कमान के अतिरिक्त इनके पास और कोई शस्त्र नहीं होते। शिकार, मछली, शहद और शकरकंद ही इनके मुख्य खाद्य पदार्थ हैं।

ये लोग बहुत शर्मीले और सीधे स्वभाववाले होते हैं, परन्तु साथ ही बहुत समझदार भी होते हैं। संगीत के ये बड़े प्रेमी हैं। कद्दू को सुखाकर उसमें कुछ डोरी या ताँत लगाकर ये एक सीधा-सादा बाजा बनाते हैं। नृत्य में इनकी बड़ी रुचि है। इनके नाच कभी-कभी घण्टों तक चलते रहते हैं और बड़ी धुन से मस्त होकर ये नाचते हैं।

लैपलैंड के मूल निवासी और उनका रहन-सहन

योरप के उत्तरी-पश्चिमी मैदानों में भी बौनों की एक जाति पाई जाती है, जिसको लैप्स (Laps) कहते हैं। इस जाति के लम्बे-से-लम्बे पुरुष ५ फ़ीट के होते हैं। ये स्वीडन के उत्तरी भाग लैपलैंड के वासी हैं। इनके चेहरे छोटे और गोल होते हैं, परन्तु नेत्र और केश काले रंग के होते हैं। इनकी टाँगें थोड़ी टेढ़ी होती हैं; क्योंकि इनके जीवन का अधिकतर समय बर्फ़ की गाड़ियों में दबे-दबाए हुए या धरती पर झुककर बैठे हुए ही व्यतीत होता है। यही कारण है कि वे चलने-फिरने में तेज़ नहीं होते।

इनमें से वे जो समुद्र-तट के निकट रहते हैं मछली का शिकार करते हैं, परन्तु अधिकतर लोग बारहसिंघों (Reindeers) के ही चरवाहे हैं। बारहसिंघा ही उनका सर्वस्व है। जब तक वह जीता है, उन्हें उससे दूध मिलता है। इस दूध को या तो वे ताज़ा ही पी लेते हैं या जाड़े के लिए पनीर बनाकर रख छोड़ते हैं। जब वह मर जाता है तो ये उसका मांस खा लेते हैं और उसकी खाल के

कपड़े या डेरे बना लेते हैं। इनको गाँठने के लिए बारहसिंघों की ही हड्डियों की सुइयाँ तथा उसी की नाड़ियों या पुट्ठों के डोरे काम में लाते हैं। उसी के खुर जलाकर वे सरेस बना लेते हैं। उनकी अमीरी और ग़रीबी का निर्णय बारहसिंघों की ही संख्या पर निर्भर है। एक बड़े घराने के भली-भाँति निर्वाह के लिए २००-३०० जानवर काफ़ी होते हैं। यदि किसी के पास ५०० बारहसिंघे होते हैं तो वह बड़ा धनी समझा जाता है। इनमें ग़रीब-से-ग़रीब मनुष्य के पास भी आधे दर्जन बारहसिंघे होते हैं।

एक स्थान में बारहसिंघों के खाने की घास या हरी वनस्पति जब ख़त्म हो जाती है, तब ये लोग दूसरी जगह चले जाते हैं। डेरे ही इनके घर हैं। ये डेरे त्रिकोण की शक्ल के होते हैं। कई पतले लम्बे बाँसों को झुकाकर गाड़ देते हैं और ऊपर से बारहसिंघे की खाल या सनौबर की छाल डाल देते हैं। ऊपरी भाग में बीच में एक सूराख़ छोड़ देते हैं। डेरे के बीच में ये लोग धरती पर जो आग जलाते हैं उसका धुआँ इसी सूराख़ से बाहर निकलता है। इसी आग के ऊपर बरतन लटकाकर वे अपना खाना पका लेते हैं। जब ये लोग अपना स्थान बदलते हैं तो स्त्रियाँ डेरे को उखाड़कर और उसे लपेटकर बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ी पर लाद देती हैं। इन गाड़ियों में बारहसिंघे ही जोते जाते हैं। बर्फ़ पर चलनेवाली छोटी-छोटी गाड़ियों में ये लोग स्वयं बैठकर जाते हैं।

अफ़्रीका के नाटे जंगली पिगमी

बारहसिंघों की देख-भाल के अतिरिक्त पुरुष ग्रीष्म ऋतु में नदी से मछलियाँ पकड़ते हैं और चिड़ियाँ फँसाते हैं तथा स्त्रियाँ बारहसिंघों का दूध दुहती हैं, उनकी देख-भाल करती हैं तथा कपड़े सीतीं और घर-गृहस्थी के अन्य कार्य करती हैं। बालक इधर-उधर फल बटोरने के लिए घूमते फिरते हैं। उनके प्रतिदिन के दूध और मांस का स्थान कभी-कभी यही फल ले लेते हैं।

शीत कटिबन्ध के निवासी—एस्किमो

एक अत्यन्त प्राचीन जाति आज भी मानव इतिहास की उसी आदिम अवस्था में रहती है जिसमें कि इतिहास के उदय के समय मनुष्य रहते थे। यह जाति है एस्किमो, जो ग्रीनलैंड तथा कनाडा के उत्तरी समुद्र-तट में बसी हुई है। एस्किमो अत्यन्त ठंडे अथवा बर्फ़ीले देशों के निवासी होते हुए भी छोटे क़दवाले होते हैं। इसका कारण उनके नीच ढंग से जीवन व्यतीत करना भी हो सकता है। वे अपनी शक्ल-सूरत में चीनियों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। संभव है कि दोनों एक ही पूर्वज के वंशज हों। उनके चेहरे गोल, बाल सीधे और काले होते हैं। बहुधा उनके नेत्रों के भीतरी कोने में चीनियों के समान एक निराली खाल की झिल्ली होती है। स्त्री और पुरुष दोनों ही लम्बे बाल रखते हैं तथा दोनों के कपड़ों में भी बहुत सादृश्य होता है। अतः यह पहचानना अक्सर कठिन हो जाता है कि हम स्त्री से बात कर रहे हैं अथवा पुरुष से।

सुदूर उत्तर के इन निवासियों के पास भेड़ें नहीं हैं, जिनके ऊन के कपड़ों को पहनकर वे वहाँ की भयंकर शीत से अपने शरीर की रक्षा कर सकें। बर्फ़ से ढकी हुई धरती पर वे अनाज भी पैदा नहीं कर सकते, जिससे कि वे अपने लिए रोटियाँ बना लें। अपना खाना पकाने के लिए तथा शरीर को गर्म रखने के लिए उन्हें कोयले की आग भी प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्हें अपने शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रखने तथा अपने जीवन को आनन्द से व्यतीत करने के लिए वहाँ के हिमाच्छादित मैदानों में सभी वस्तुएँ मिल जाती हैं। क्या आप सोच सकते हैं कैसे? वे अपनी क़रीब-क़रीब सभी चीज़ों के लिए सागर पर ही निर्भर हैं और इसीलिए वे समुद्र-तट पर ही रहते हैं। जिनको खा-पीकर ये अपनी गुज़र करते हैं उन पशुओं में मुख्य सील, वालरस और ह्वेल हैं। ये तीनों स्तनपोषी जीव हैं। इनके अतिरिक्त ये लोग सामन और हेलीबट मछलियाँ भी पकड़ते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जो पक्षी वहाँ आते हैं उनको फसाने की युक्ति भी ये लोग करते हैं।

शिकार करने के लिए इन्हें हथियारों की आवश्यकता होती है और उनके बनाने में ये बहुत बुद्धिमानी से काम लेते हैं। ह्वेल की पसली की ये लोग कमान बना लेते हैं और हड्डियों ही के तीर और भाले भी तैयार कर लेते

हैं। परन्तु इनका मुख्य हथियार एक प्रकार का बल्लम अथवा "हार्पून" (Harpoon) है। इस बल्लम का बेंट उन लकड़ियों का होता है जो बहकर उनके देश के तटों पर आ लगती हैं, और नोक वालरस की कड़ी हड्डियों की होती है। ये बल्लम ऐसी चतुराई से बने होते हैं कि जब किसी जानवर पर ये मारे जाते हैं तो हड्डी की नोक लकड़ी से अलग हो जाती है, अर्थात् हड्डी तो जानवर के शरीर में रह जाती है और लकड़ी शिकारी के हाथ में। हड्डी में ताँत के द्वारा सील की एक खाल, जिसमें हवा भरी होती है, बँधी रहती है। इस हवा भरी हुई खाल के कारण शिकार पानी में डूब नहीं पाता तथा शिकारी को यह पता रहता है कि उसका शिकार किस जगह पर है। इन्हीं प्राचीन शस्त्रों से ये लोग ह्वेल, वालरस, सील और बारहसिंघे का शिकार अत्यन्त साहसपूर्वक करते हैं। ध्रुव प्रदेश के भालू का शिकार करने में भी ये लोग इन्हीं शस्त्रों का प्रयोग करते हैं।
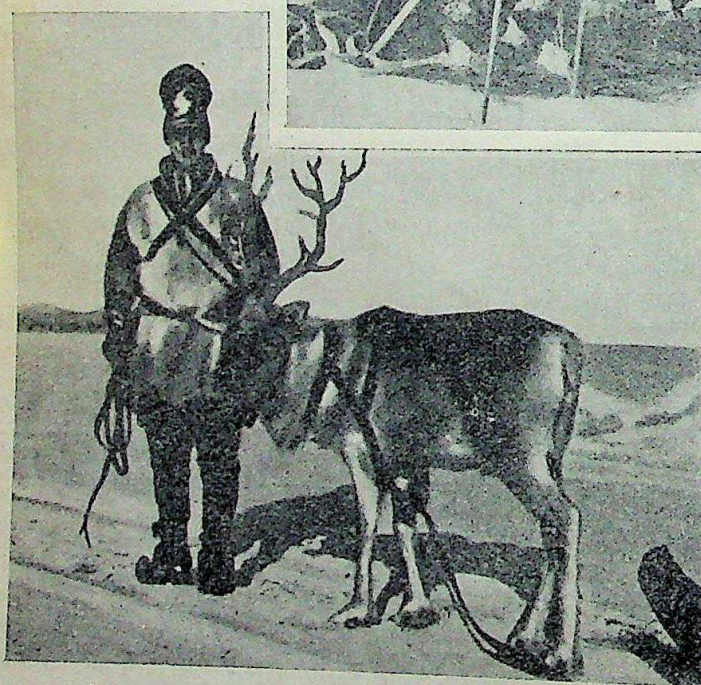
इन्हें अपना भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के लिए सागर पर जाना पड़ता है, इसलिए नावों की भी इन्हें ज़रूरत पड़ती है। यह तो कहा ही जा चुका है कि इनके प्रदेश में वृक्ष तो होते ही नहीं हैं, फिर ये नाव किससे बनाते हैं? इसके लिए उन्हें सागर की लहरों द्वारा तट पर एकत्रित की हुई लकड़ियों अथवा ह्वेल की बड़ी-बड़ी हड्डियों का ही सहारा लेना पड़ता है। लकड़ी या हड्डी का छोटा-सा ढाँचा बनाकर ये उसे सील की खाल से मढ़ देते हैं। सीने के लिए सुइयाँ भी हड्डी की बनती हैं तथा डोरे का काम जानवरों की ताँत से लिया जाता है। खाल की ये छोटी-छोटी नावें क्यक (Kyak) कहलाती हैं। इनमें बीच में एक इतना बड़ा सूराख़ होता है जिसमें से एक एस्किमो की टाँगें भीतर चली जायँ। एक नाव में एक ही आदमी बैठ सकता है। इन्हीं सुकुमार नावों में ये वीर भीषण तूफ़ानों में भी शिकार के लिए जाते हैं और सुरक्षित रूप से वापस आ जाते हैं। विशेषकर बर्फ़ीले प्रदेश के बारहसिंघे और सील ही उनके जीवन-निर्वाह के मुख्य आधार हैं। यदि ये न हों तो वहाँ इन लोगों का जीवन असम्भव हो जाय। ये पशु मांस के अतिरिक्त अपनी खालें भी एस्किमों को प्रदान करते हैं। इन्हीं खालों से वे अपने वस्त्र और डेरे तैयार करते हैं। सील और ह्वेल की चर्बी खाकर ये लोग अपने शरीर को वहाँ की भीषण शीत से बचाने के लिए गर्म रखते हैं। यह चर्बी उन्हें इतनी स्वादिष्ट लगती है कि वे उसे बहुधा कच्ची ही खा जाते हैं। चर्बी

एक लैप, उसका डेरा और बारहसिंघा

लैप ही योरप के सर्वप्राचीन लोग हैं। ये अपना जीवन इधर-उधर घूमकर बिताते हैं। ये डेरों में रहते तथा बारहसिंघों का शिकार करते या उन्हें पालते हैं। बारहसिंघे का गोश्त और दूध ये लोग खाते हैं, उसकी खाल को डेरे और कपड़े के काम में लाते हैं।

ही को जलाकर वे उससे दीपक का काम चलाते हैं तथा उसी पर अपना खाना पकाते हैं।

गर्मी के दिनों में इनके देश में कभी सूर्यास्त होता ही नहीं। रात के समय भी वहाँ दिन ही रहता है। इस समय इनका जीवन सरल रहता है। पानी में शिकार भी आसानी से मिल जाते हैं। तट से दूर मैदानों में इन्हें बारहसिंघों का शिकार करने में भी अधिक कठिनाई नहीं होती। लकड़ी और हड्डी के ढाँचे पर जानवरों की खाल चढ़ाकर ये अपने लिए छोटे-छोटे डेरे बना लेते हैं। वही उनके घर होते हैं। किन्तु जाड़े के दिनों में, जब उन्हें दिन में भी सूर्य का दर्शन नहीं होता, इतनी प्रचण्ड सर्दी होती है कि सब पानी जमकर बर्फ़ हो जाता है और शरीर को कँपानेवाली ठण्ढी हवा चलती रहती है। ऐसे समय में इनका जीवन बड़ा ही कठिन हो जाता है। पानी के जम जाने के कारण नावें बेकार हो जाती हैं, इसलिए इन्हें अपना आहार प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है।

इनके सौभाग्य से सील को भी मनुष्य की तरह हवा में साँस लेने की ज़रूरत पड़ती है। अतः पानी के ऊपर जमी हुई बर्फ़ को वह अपनी साँस से गलाकर उसमें सूराख़ बना लेती है। इसी सूराख़ से वह अपना सिर हवा में साँस लेने के लिए पानी के ऊपर निकालती है। इन्हीं सूराख़ों के पास एस्किमों घण्टों तक ताक लगाए पड़े रहते हैं। ज्योंही कोई सील साँस लेने के लिए ऊपर आती है, ये बर्छी या बल्लम फेंककर उसे मार डालते हैं।

सर्दी और हवा से रक्षा करने के लिए वे डेरे, जिन्हें ये लोग गर्मी में बनाते हैं, काफ़ी नहीं होते। अतः इस ऋतु में ये अपने रहने का दूसरा प्रबन्ध करते हैं। ये लोग धरती में गड्ढे खोद लेते हैं और ऊपर से पत्थर के टुकड़े एक पर एक रखकर गुम्बज़-सा बना लेते हैं। यदि लकड़ी और हड्डी उपलब्ध होती हैं तो इन्हीं का त्रिकोण ढाँचा बनाकर खाल से मढ़ लेते हैं। यदि यह सब कुछ भी न मिला तो वे बर्फ़ की सिलें काटते हैं और गड्ढे के ऊपर बर्फ़ के टुकड़े रखकर गुम्बज़-सा बना लेते हैं। ये मकान इतने नीचे होते हैं कि इनमें घुसने के लिए दूर से नीची सुरंगें बनाई जाती हैं, जिनके सिरे पर खाल से ढके हुए द्वार होते हैं। एस्किमो लोग रात को अपने कुत्तों को इन्हीं सुरंगों में सुला देते हैं जिससे कि वे इस प्रदेश के श्वेत भालुओं से बचे रहें। सुरंगों में ये लोग घुटने के बल सरककर चलते हैं, क्योंकि वे बहुत नीची होती हैं। झोपड़ी के अन्दर ये चबूतरे बना लेते हैं और उन्हीं पर बैठते और सोते हैं। इन बर्फ़ की झोपड़ियों में धुआँ या हवा निकलने के लिए कोई चिमनी नहीं होती, इसलिए ये लोग भीतर आग नहीं जला पाते, किन्तु ये लोग नर्म साबुनी पत्थर का दिया बनाते हैं और सूखी हुई काई की बत्ती बनाकर उस दिये
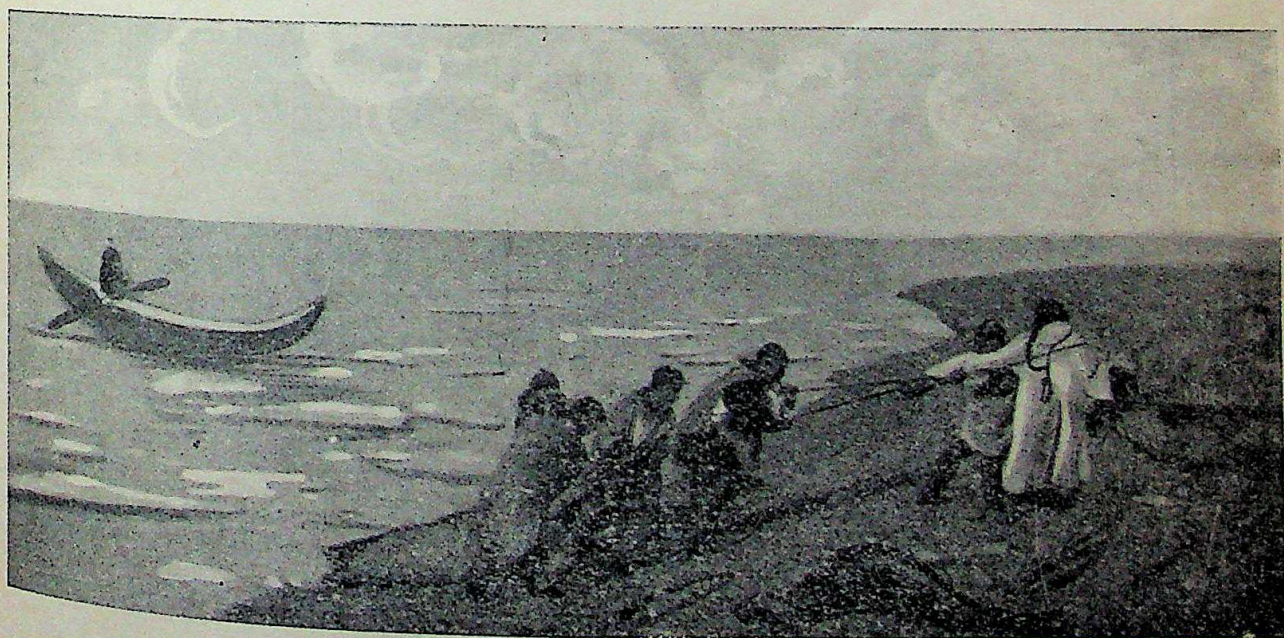
अमरीका के आर्कटिक प्रदेश के सील मारनेवाले एस्किमों और उनके देशी क्यक

एस्किमों बहुत ज़बरदस्त खानेवाले हैं। ये अपनी सुकुमार नावों में मछली मारने और सील का शिकार करने जाते हैं। सील उनको केवल मांस और चर्बी ही नहीं देतीं, बल्कि पहनने के लिए खाल, और दीपकों तथा आग जलाने के लिए तेल भी देती हैं।

में चर्बी डालकर जलाते हैं। इससे उन्हें प्रकाश और गर्मी मिलती है। इसी पर वे खाना भी पकाते हैं। ठंडे-से-ठंडे मौसम में भी इन बर्फ़ के मकानों के भीतर इतनी गर्मी होती है कि इन लोगों को अपने रोयेंदार गर्म कपड़े पहिनने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

स्त्री और पुरुष एक-से ही कपड़े पहनते हैं। स्त्रियों की जाकटों की पीठ पर झोलियाँ होती हैं जिसमें वे अपने हँस-मुख, तन्दुरुस्त बच्चों को बिठा लेती हैं। स्त्रियाँ घर की देख-भाल करती हैं तथा अपने वस्त्रों और नौकाओं के लिए खालों को तैयार करती और सीती हैं। पुरुष शिकार करते हैं और जाड़े की लम्बी ऋतु में अपना फ़ालतू समय नये हथियारों को बनाने या पुरानों की मरम्मत करने अथवा हाथीदाँत पर नक्काशी करने में बिताते हैं। ये लोग हम लोगों की तरह अक्षर नहीं लिखते, किन्तु अपने भावों को चित्रों के द्वारा प्रकट करते हैं जैसा कि किसी समय प्राचीन मिस्रवाले किया करते थे। ये लोग शायद ही कभी नहाते हों। मातायें अपने बच्चों को कभी-कभी चाटती हैं। इनके जीवन भर में यही नहाना और सफ़ाई है। जब से इन लोगों का योरप-निवासियों से मेल हुआ है तब से इनकी जनसंख्या घटती जा रही है। एस्किमो अपनी तैयार की हुई खालें योरपवालों के हाथ बेच देते हैं और उनके बदले में कपड़े ले लेते हैं। परन्तु वे उनकी खालों के बराबर गर्म नहीं

एस्किमो के गर्मी और जाड़े के मकान

(ऊपर) गर्मी का मकान, जो लकड़ी और हड्डियों का ढाँचा है और खाल से ढक दिया गया है। (नीचे) जाड़े के लिए बर्फ़ का मकान अथवा इगलू। यह केवल बर्फ़ के टुकड़ों का ही बनता है। पृथ्वी में एक [illegible] उसके किनारे बर्फ़ के टुकड़े एक पर एक रखकर गुम्बज बना लिया जाता है। अत्यन्त ठंडक के कारण बर्फ़ की सिलें पिघल नहीं पातीं, फिर भी मकान के अन्दर बहुत गर्मी रहती है।

होते। इसके अतिरिक्त योरपवासियों की कई बीमारियाँ भी इन लोगों में फैल गई हैं। बहुत-से प्राणी तो इन्हीं रोगों के शिकार बन जाते हैं।

अमरीका के असली निवासी—रेड इंडियन

अब उत्तरी अमरीका की एक और आदिम जाति लाल भारतीय (रेड इंडियन) का हाल भी सुन लीजिये। यह जाति भी सभ्यता के चक्र में फँसकर दिन-दिन लुप्त होती जा रही है। किन्तु एक समय था जब इस जाति के लोग
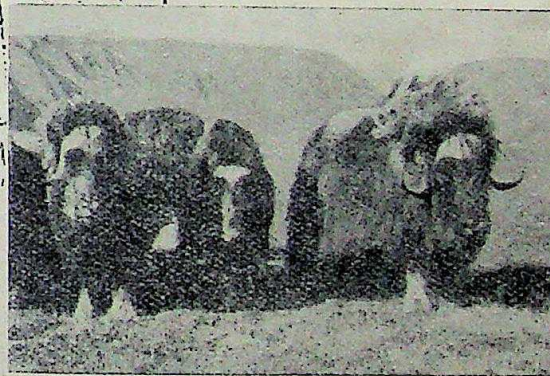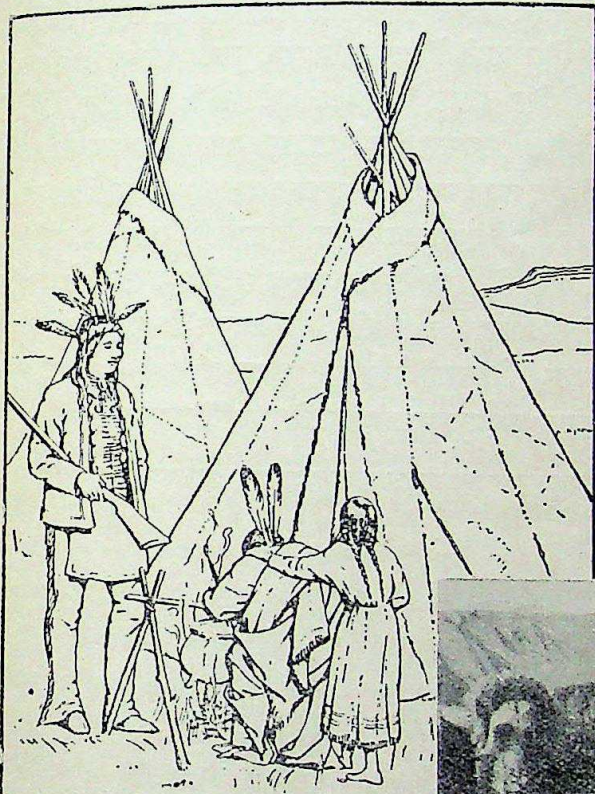
लाल भारतीय, उनका विगवैम नामक डेरा और बिसन

इन डेरों को बनाने के लिए बाँस गोले में खड़े करके ऊपर एक साथ बाँध दिये जाते हैं और ऊपर से बिसन की खाल ढक दी जाती है।

समस्त अमरीका में फैले हुए थे। शिकार खेलना, मछली मारना और युद्ध करना ही इनका मुख्य काम था। वे अपने देश के घने जंगलों और विस्तृत मैदानों में रहते थे, परन्तु उनके देश में योरप के गोरे निवासियों का पदार्पण होते ही उनकी स्वतंत्रता छिन गई। अब ये लोग केवल कुछ नियुक्त स्थानों में रहने और सभ्यता को अपनाने के लिए विवश होने के कारण घटते चले जा रहे हैं।

ये लोग न तो लाल ही हैं और न हिन्दोस्तानी ही। प्रसिद्ध नाविक कोलम्बस १५वीं शताब्दी के अंतिम चरण में जब भारतवर्ष के लिए समुद्री मार्ग खोजने के लिए निकला और पहुँच गया अमरीका में, तो उसे यही ख्याल हुआ कि वह भारत ही पहुँचा है। वहाँ के निवासियों का रंग हल्का कत्थई था, इसलिए उसने उनका नाम रेड इन्डियन रख दिया था। यही नाम अब तक प्रचलित है।

गोरी खालवालों के बसने से पहले ये लोग धातु का प्रयोग बिल्कुल ही न जानते थे। उनके शस्त्र धनुष, बाण, पत्थर की कुल्हाड़ियाँ और सीप के चाकू ही थे। उनके देश के हरे-भरे मैदानों में आजकल की भाँति घोड़े, भेड़, गाय आदि न मिलते थे। ये सब तो योरपवालों ने वहाँ १६ वीं शताब्दी में पहुँचाये। उस समय वहाँ हिरन और

गाय से मिलता-जुलता बड़े सिर और कन्धेवाला बिसन नाम का जंतु पाया जाता था। इन लाल भारतीयों के लिए बिसन बहुत लाभदायक था। उसकी खाल से वे अपने वस्त्रों, डेरों और बिस्तरों का काम निकालते थे। उसका मांस ये लोग बहुधा पकाकर परन्तु कभी-कभी कच्चा भी खाते थे। उसके खुरों से वे सरेस निकालते और सींग से पानी पीने के पात्र का काम लेते थे। बिसन का शिकार ये लोग पैदल ही धनुष-बाण से किया करते थे, किन्तु बिसनों के झुंड जब एक स्थान की घास समाप्त हो जाने पर दूसरी जगह चल देते थे तब उन पर निर्भर इन आदिम मनुष्यों को भी उनका पीछा करना पड़ता था।

अपनी जगह समय-समय पर बदलते रहने के कारण ये आदिम अमरीका-वासी साधारण-से डेरों में ही अपनी गुज़र करते हैं। ये डेरे गोलाकार होते हैं और लकड़ी के डंडों के ढाँचे पर चमड़ा मढ़कर तैयार किये जाते हैं। पिछले पृष्ठ के चित्र में ऊपर की ओर जहाँ लकड़ियाँ निकली हुई दिखलाई दे रही हैं उस जगह एक झरोखा रहता है, जिससे भीतर डेरे में जलनेवाली आग का धुँआ बाहर निकलता रहे। तेज़ हवा चलने पर यह झरोखा भी किसी खाल के टुकड़े से बन्द किया जा सकता है। एक ओर डेरा खुला होता है, जहाँ दर्वाज़े के बजाय खाल का पर्दा पड़ा रहता है। ये डेरे इतने मामूली होते हैं कि स्त्रियाँ उन्हें उखाड़कर सरलता-पूर्वक एक से दूसरे स्थान को ले जाती हैं। पुरुष सिर पर एक विशेष प्रकार की टोपी-सी पहनते हैं, जिसमें से ऊपर को पर निकले रहते हैं। ये पर बड़े ही सुन्दर होते हैं। इनके बाल सीधे, लम्बे और काले होते है। कभी तो ये उन्हें यों ही खुले लटकने देते हैं और कभी चोटी बाँध लेते हैं। ये लोग अपने शरीरों पर या तो रंग पोत लेते हैं या गुदना गोदते हैं। इनकी देखने और सुनने की शक्तियाँ बड़ी तेज़ होती हैं।

जिन जातियों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं इनके अतिरिक्त संसार के भिन्न-भिन्न भागों में और भी ऐसी जातियाँ विद्यमान हैं जो पाषाण-काल की सभ्यता के समीप ही हैं। उदाहरणार्थ—प्रशान्त महासागर के द्वीपों के वासी, अरब के बालुकामय प्रदेश के असली निवासी, साइबीरिया के मैदानों में बसनेवाले चरवाहे और भारतवर्ष के प्राचीन निवासी कोल और भील, जो सतपुरा के पहाड़ी जंगलों में अब भी दिखलाई देते हैं। स्थान की कमी के कारण यहाँ इनका वर्णन करना हम उचित नहीं समझते।

प्रशान्त महासागर के न्यू गिनी द्वीप में बसनेवाले जंगली पापुआन, जो सभ्यता की बिलकुल निम्न श्रेणी पर हैं।

प्रतिक्रिया और आचरणवादी मनोविज्ञान—(२)

संसर्गजात प्रतिक्रिया के संबंध में रूसी वैज्ञानिक पोफ़ोलोफ़ की खोज

पिछले लेख में यह कहा जा चुका है कि पोफ़ोलोफ़ के प्रयोगों का क्षेत्र वास्तव में प्राणि-विज्ञान था। फिर भी उसके प्रयोगों और खोज ने आचरणवादी मनोविज्ञान पर काफ़ी प्रभाव डाला है। पोफ़ोलोफ़ हाजमे के संबंध में कुछ खोज कर रहा था और इसी सिलसिले में वह संसर्गजात प्रतिक्रियाओं तक पहुँच गया था। वह उस समय एक कुत्ते पर प्रयोग कर रहा था। अन्य पशुओं की अपेक्षा कुत्ते पर प्रयोग करने से जो फल निकलेगा वह मनुष्य पर अधिक लागू होगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क बहुत-कुछ कुत्ते-जैसा ही बना है। पोफ़ोलोफ़ ने अस्त्रचिकित्सा द्वारा लार के निकलने का स्थान कुत्ते के गाल में कर लिया था। अब लार मुँह की राह न आकर सीधे अपने केन्द्र से टपक पड़ती। यह उसने इसलिए किया था कि वह देख सके कि बाहरी प्रभाव से किस प्रकार लार गिर या रुक सकती है। अपने भोजन की तश्तरी सामने देख या भोजन लानेवाले को देखकर अथवा उसकी पद-चाप ही सुनकर कुत्ते की लार गिरने लगती। पोफ़ोलोफ़ अपने पहले प्रयोगों में देख चुका था कि लार का आना या रुकना बहुत-कुछ भोजन के ऊपर निर्भर था। भोजन रूखा होता तो लार अधिक निकलती या भोजन गीला होता तो लार कम निकलती। इससे यह मालूम हुआ कि शरीरयंत्र परिस्थिति के अनुसार परिचालित होता है। परंतु अभी तक शारीरिक क्रियाओं का मस्तिष्क से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था। मुँह में जब भोजन गया तब उससे स्वाद-इंद्रियों में प्रतिक्रिया हुई और इस तरह लार बनी। परंतु जब कुत्ते ने केवल भोजन से सम्बन्धित वस्तुओं को देखकर लार गिराना आरंभ कर दिया, तब कहना चाहिए कि शारीरिक प्रतिक्रियाओं में मस्तिष्क का भी कोई स्थान है। शारीरिक प्रतिक्रिया—जैसे लार बहना—के लिए स्वाभाविक यह है कि प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेवाली वस्तु का शरीर से स्थूल सम्बन्ध हो; परंतु जब वह बिना इस स्थूल सम्बन्ध के केवल उन वस्तुओं के देखने या सुनने-मात्र से, जिनका प्रतिक्रिया-जनक वस्तु से संसर्ग है, उत्पन्न हो जाती है तो हम उस प्रतिक्रिया को संसर्गजात कहेंगे। पोफ़ोलोफ़ अब खोज करने लगा कि इन मनोविकारों का शारीरिक क्रियाओं से ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है; केवल मनोविकार शारीरिक क्रियाओं को कैसे जन्म दे सकते हैं। क्या मनुष्य भी अपने आपको इसी प्रकार परिस्थिति के अनुकूल बनाता है और परिस्थिति उसके भीतर विशेष प्रकार की क्रियाएँ उत्पन्न करती है? पोफ़ोलोफ़ मनोवैज्ञानिक तो था नहीं, अतएव उसने अपने जीव-विज्ञान की प्रणाली पर ही प्रयोग करने आरंभ किये।

प्रतिक्रियाजनक वस्तु के बदले उसके संसर्ग में आई अन्य वस्तुएँ कहाँ तक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती हैं, पहले वह इसी की जाँच करने लगा। तश्तरी और भोजन लानेवाले व्यक्ति का भोजन से निकट का सम्बन्ध है। पोफ़ोलोफ़ ने कमरे में एक प्रकार का वाद्ययंत्र रखा, जो भोजन देने के पहले एक मिनट तक शब्द करता था। कुछ बार ऐसा करने का फल यह हुआ कि वाद्ययंत्र एक मिनट तक बज भी न पाता कि भोजन की आशा से कुत्ते की लार गिरने लगती। इसके बाद यह किया गया कि नियत समय तक वाद्ययंत्र को बजाकर भोजन न दिया गया। इससे पहले तो लार बही, परंतु कुछ प्रयोगों के पश्चात् कुत्ता समझ गया कि अब भोजन नहीं मिलने का और उसकी लार आना भी कम हो गई। धीरे-धीरे लार बिलकुल बन्द हो गई। भोजन के संसर्ग से वाद्ययंत्र के शब्द में कुत्ते के लिए जो गुण उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया। पोफ़ोलोफ़ ने यह भी देखा कि यदि पहले दिन वाद्ययंत्र का शब्द सुनकर संसर्गजात प्रतिक्रिया निश्चित हो गई, तो दूसरे दिन तक उसका वैसा ही प्रभाव न बना रहा। वरन्

दूसरे दिन जब वाद्ययंत्र बजा तो कुत्ते के भीतर कोई भी प्रतिक्रिया न उत्पन्न हुई। परंतु यदि प्रत्येक बार वाद्ययंत्र का शब्द करने पर उसे भोजन दिया गया, तो उससे फिर वही संसर्ग स्थापित हो गया। विशेष बात यह हुई कि संसर्ग स्थापित करने के लिए अब की पहले की अपेक्षा कम समय लगा। इस प्रयोग के लगातार दोहराने का परिणाम यह हुआ कि संसर्ग उत्पन्न करने के लिए कुछ भी समय न लगता। इसी भाँति एक बार संसर्ग स्थापित हो जाने पर जब निषेधात्मक प्रयोग किया जाता अर्थात् वाद्ययंत्र बजाकर भोजन न दिया जाता तो पहले के संसर्ग को मिटाने में काफ़ी समय लगता। एक दिन संसर्ग के मिट जाने पर वह फिर दूसरे दिन प्रकट हो जाता। परंतु बराबर कई दिन तक यदि वह निषेधात्मक प्रयोग किया जाता, तो संसर्गजात प्रतिक्रिया बिल्कुल ही बन्द हो जाती और कुत्ते की लार वाद्ययंत्र के बजने पर भी न निकलती।

संसर्गजात प्रतिक्रिया का स्थापन और निषेध—दोनों एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि पोफ़ोलोफ़ ने निश्चित् किया कि शारीरिक क्रियाएँ दोनों बार एक ही होती हैं। अंतर केवल इतना होता है कि पहली बार "संसर्ग" स्थापित किया जाता है, दूसरी बार उसका "निषेध"। पोफ़ोलोफ़ ने अपने प्रयोगों को और विस्तार देते हुए देखा कि प्रतिक्रिया-जनक वस्तु से मिलती-जुलती अन्य वस्तु के होते हुए कुत्ता दोनों के भेद को भी पहचान सकता है। मान लीजिए वाद्ययंत्र से षड़ज पर एक शब्द किया गया और कुत्ते को भोजन दिया गया। दूसरी बार पंचम पर शब्द किया गया; कुत्ते ने इस बार भी लार गिराई, परंतु उसे भोजन नहीं दिया गया। ऐसा अनेक बार करने पर पोफ़ोलोफ़ ने देखा कि षड़ज पर शब्द करने पर ही कुत्ता लार गिराता है; पंचम पर शब्द करने से उसके भीतर वैसी कोई संसर्गजात प्रतिक्रिया नहीं होती। इसके बाद स्वर को पंचम से उतारते हुए षड़ज की तरफ़ आए। देखना यह था कि कुत्ता कितना सूक्ष्म भेद जान सकता है। पंचम से पहले तीव्र मध्यम तक आए, फिर मध्यम तक। और षड़ज के अत्यंत निकट के स्वर, कोमल ऋषभ, तक आने में कई महीने लग गये, परंतु प्रयोग करनेवालों का कहना था कि कुछ कुत्ते इस भेद को ग्रहण कर सकते हैं।

अपने प्रयोगों से पोफ़ोलोफ़ इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मस्तिष्क में ऐसे विश्लेषक स्नायु रहते हैं जो शरीर के चारों ओर होनेवाली हलचल से अपने काम की विशेष प्रतिक्रियाएँ ही ग्रहण करते हैं। जहाँ तक मनुष्य के आचरण की बात है, वह उसकी एकत्र संसर्गजात प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इस संसर्ग का नियमन उस तत्त्व से होता है जिससे कि मस्तिष्क बना हुआ है। प्रमाण यह है कि पशु-मस्तिष्क के इस तत्त्व पर आघात होने से फिर वह पशु संसर्गजात प्रतिक्रियाएँ ग्रहण नहीं करता। निद्रा में भी ऐसा संसर्ग नहीं स्थापित हो सकता, जिससे सिद्ध होता है कि मस्तिष्क के इस भाग की क्रिया उक्त प्रतिक्रियाओं के लिए अनिवार्य है। पोफ़ोलोफ़ मनोवैज्ञानिक नहीं था परंतु उसने मनोवैज्ञानिकों से पूछा कि वे उसकी खोजों को किन पारिभाषिक शब्दों में व्यक्त करेंगे। पुराने मनोवैज्ञानिकों के पास पुरानी शब्दावली ही थी जिसे पोफ़ोलोफ़ ने अपनी नवीन प्रयोग-सिद्ध खोजों के लिए अपर्याप्त समझा। अतएव उसने घोषणा की कि आचरण को समझने के लिए प्राणि-विज्ञान जानना आवश्यक है। जब उसे अमेरिका के डाक्टर थार्नडाइक के प्रयोगों का पता चला तो उसने थार्नडाइक की खोजों का स्वागत किया, क्योंकि इससे उसके पक्ष की पुष्टि होती थी। परंतु अमेरिका में पोफ़ोलोफ़ का स्वागत धीरे-धीरे हुआ। वाटसन ने पहले उसके प्रयोगों का उल्लेख करते हुए कहा कि उनसे मनोविज्ञान की छानबीन में सहायता मिल सकती है परंतु मनोवैज्ञानिक खोज की अन्य प्रणालियों की तुलना में वे तुच्छ ठहरते हैं। क्रमशः उसने कहा कि पुरानी प्रणालियों को छोड़कर पोफ़ोलोफ़ की प्रयोगशैली को ही ग्रहण करना चाहिए। उसने स्वयं उसे अपनाया और कहा कि अँधेरे में कब्रिस्तान में या ऐसी जगहों में जो भय की भावना उत्पन्न होती है वह एक संसर्गजात प्रतिक्रिया है। स्मिथ, गुथरी आदि अन्य आचरणवादियों ने भी स्वीकार किया कि मनुष्य का सभी आचरण संसर्गजात प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है।

आचरणवाद के संबंध में अब भी बहुत-सा वादविवाद प्रचलित है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि पुराने मनोविज्ञान में अब आगे बढ़ने की सामर्थ्य न थी और उसे गति देने के लिए एक नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। संभव है, आचरणवादी अपने प्रयोगों से जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, वे सभी ठीक न हों, परंतु उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने मनोविज्ञान को तर्क-वितर्क की भूमि से हटा कर उसे पुष्ट वैज्ञानिक प्रयोग की भित्ति पर स्थापित किया है। ये प्रयोग आगे चलकर अन्य गुत्थियों को सुलझाने में सफल होंगे, इसकी पूर्ण आशा की जा सकती है।
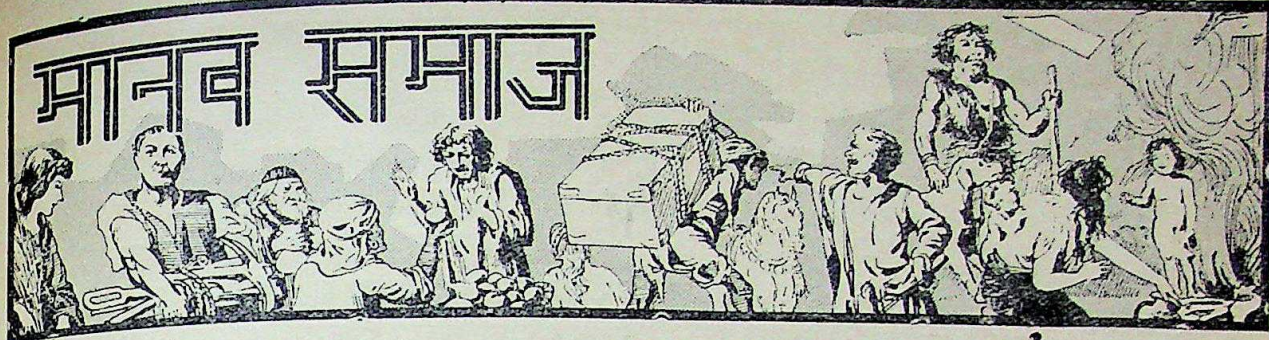
मानव समाज

राष्ट्र का निर्माण

राष्ट्र और समाज का महत्त्वपूर्ण और घनिष्ठ संबंध है। अतः इस स्तम्भ में इस महत्त्वपूर्ण संस्था के विकास पर प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

राष्ट्र मानव समाज की उस राजनीतिक संस्था को कहते हैं जिसका निर्माण किसी निश्चित भूभाग के निवासियों की रक्षा तथा पालन के हेतु किया गया हो। राष्ट्र और राज्य अथवा शासन में कुछ थोड़ा अन्तर है। राष्ट्र अपने आदेश को राज्य अथवा शासन द्वारा सूचित करता है। यों भी कहा जा सकता है कि राष्ट्र अपने प्रभुत्व को राज्य द्वारा स्थापित करता है। राष्ट्र राज्य से कहीं बड़ा है, क्योंकि राष्ट्र में भूभाग के रहनेवाले सब व्यक्ति सम्मिलित हैं। परन्तु राज्य में केवल वे ही मनुष्य गिने जा सकते हैं जो किसी विशेष संस्था के सदस्य हों। राष्ट्र में केवल निश्चित भूभाग और जनसंख्या ही नहीं वरन् एकत्व और निर्माण का भाव भी सम्मिलित है। राष्ट्र राजनीतिक रचना और उसके नियम, अधिकारीगण, तथा राजतंत्र का बोधक है। इसमें व्यक्तियों का परस्पर सहयोग भी सूचित है।

राष्ट्र का निर्माण मनुष्य के इतिहासकाल से बहुत पूर्व हुआ था। राष्ट्र-रचना के निश्चित स्रोत तथा धाराओं का ठीक-ठीक पता नहीं है। उसके प्रारम्भ-काल के विषय में बहुतांश में केवल अनुमान ही किया जाता है। कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और सभ्यता की आदिम अवस्था में रहनेवाली कुछ जातियों की आजकल की दशा तथा रहन-सहन के ढर्रे में आदिम राष्ट्र के कुछ विशेष लक्षणों तथा चिह्नों का प्रमाण मिलता है। इन्हीं सूत्रों द्वारा आदिम राष्ट्र के सम्बन्ध में कुछ निश्चित सी धारणाएँ बन गई हैं। इस लेख में इस विषय-संबंधी प्रमुख मतों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

राष्ट्र के सम्बन्ध में 'ईश्वर-दत्त अधिकार मत' (Divine Right Theory) बहुत काल तक प्रमुख रहा। इस मत के अनुसार मनुष्यों का राजा ईश्वर द्वारा चुना जाता है। यह विश्वास था कि ईश्वर कुछ विशेष व्यक्तियों को सर्व-साधारण से चुन लेता है और इसलिए ईश्वर द्वारा चुने हुए ऐसे विशेष व्यक्ति का आज्ञापालन करना सर्व-साधारण का धर्म है। योरप के निर्बल राजाओं ने इस मत से बहुत लाभ उठाया और शक्ति न होते हुए भी बहुत काल तक राज्य किया। ऐसे राजाओं विशेष की श्रेणी में 'स्टूअर्टस' और 'बोर्बोन' राजघरानों की गिनती है। अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्य की पूर्ति के लिए हाल के समय में 'होहनज़ालर्न' राजवंशवालों ने इस मत का आसरा लिया। किसी समय में इस मत से बहुमूल्य समाज-सेवा हुई है! राष्ट्र के प्रति आदर तथा आज्ञापालन के भाव का जन्म इस मत के ही द्वारा हुआ, जिसके फल-स्वरूप सभ्यता और सुदृढ़ समाज की वृद्धि हुई। यद्यपि पुराने ज़माने में इस मत के प्रचार तथा समर्थन में अनेकानेक पुस्तकें लिखी गईं, परन्तु आज दिन इस मत को कोई विचारवान् पुरुष ठीक नहीं समझता। राजाओं के ईश्वर-दत्त या दैवी अधिकार के मत का खण्डन पृथ्वी के हर भाग में हो चुका है और जहाँ कहीं अब भी पुरानी सभ्यता के अनुसार राजा माना जाता है, वहाँ भी यह पद्धति केवल नाममात्र के लिए अब जीवित है, अथवा यों कहिये कि वहाँ राजा एक पुरानी सभ्यता का चिह्न-स्वरूप रह गया है। वहाँ राजा तो है परन्तु राज्याधिकार से वह अधिकांश में वञ्चित है।

इससे अधिक पुष्ट मत वह है जिसे "समाज-समझौता" या "सामाजिक निर्णय" (Social Contract) का मत कहते हैं। इस मत का समर्थन हॉब्स, लॉक और रूसो जैसे महापुरुषों ने किया। इसके अनुसार राष्ट्र राज्य के व्यक्तियों के स्वेच्छापूर्ण समझौते का फल है। सब व्यक्ति एकत्रित होकर सर्वमत से एक विधान को निश्चय करते हैं और स्वेच्छानुसार उस विधान के अनुसार कार्य करते हैं। ऐसे विधान अथवा नियमात्मक

संस्था का निर्माण इसलिए आवश्यक हुआ कि सर्व-साधारण ने किसी संयम की घोर आवश्यकता का अनुभव किया। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है। यदि किसी जन-समूह का प्रत्येक व्यक्ति निजी इच्छा तथा रुचि के अनुसार कार्य करे तो ऐसा भी हो सकता है कि किन्हीं दो या दो से अधिक व्यक्तियों की रुचि का प्रभाव एक दूसरे पर विपरीत हो अथवा अन्य मनुष्यों को उससे हानि हो। इसी अवस्था को बचाने के लिए कुछ ऐसे नियम बनाने पड़े, जिनके विरुद्ध कोई व्यक्ति कार्य न कर सके। ये नियम सर्वसम्मति से बनना अनिवार्य थे। फिर इन नियमों का पालन कराने के लिए, अथवा कोई व्यक्ति उनका उल्लंघन न करे इसकी देख-रेख के लिए, कुछ व्यक्तियों की एक टोली या एक समिति को नियुक्त करना पड़ा। तब उस समिति के सदस्य, अधिकारीगण और कर्मचारी भी नियुक्त हुए। इस प्रकार क्रमशः पूरा विधान बनाया गया, जिसको राष्ट्र के नाम से पुकारा गया। स्विट्ज़रलैंड के छोटे-छोटे राज्य और अमेरिका के उपनिवेशों का एक संगठित राष्ट्र बन जाना इस प्रकार के नियमित विधान और स्वेच्छापूर्ण समझौते का महान् प्रमाण है। यद्यपि इतिहास में वर्णित इस प्रकार के राष्ट्र-निर्माण "सामाजिक निर्णय" अथवा "समाज-समझौते" के मत की पुष्टि करते हैं फिर भी यह मत मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वकालीन राष्ट्र-निर्माण के समय तत्कालीन मनुष्य सभ्यता की इतनी उच्च श्रेणी को नहीं पहुँच पाये थे कि वे संगठन की आवश्यकता को जान सकते और उसके आधार पर कोई निश्चित विधान अथवा संघ बनाने की चेष्टा करते। सारांश यह है कि राष्ट्र-निर्माण उस समय में प्रारम्भ हुआ था जब ऐसे भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकते थे और इसलिए इन भावों का राष्ट्र-निर्माण का कारण होना सर्वथा असम्भव था। आजकल के राष्ट्रों में, अथवा उन राष्ट्रों में जो मनुष्य के अधिक सभ्य होने के बाद बने हैं, समझौते के भाव ने कुछ प्रभाव अवश्य डाला है; परन्तु फिर भी समझौते का विचार राष्ट्र-निर्माण के अनेक कारणों में केवल एक कारण है। इस मत की किसी अंश तक सराहना की जा सकती है, परन्तु राष्ट्र-निमार्ण का पूरा-पूरा ब्यौरा जानने के लिए इस मत का त्याग करना पड़ेगा और उन अन्य कारणों को ढूँढ़ना पड़ेगा, जिन्होंने मिलकर राष्ट्र-निर्माण के कार्य को पूर्ण तथा सफलीभूत किया। एक मत यह भी है कि राष्ट्र-निर्माण जाति-संघर्ष का फल है। शक्तिशाली जातियों ने निर्बल जातियों को परास्त किया और सबल तथा निर्बल जातियों के मेल से राष्ट्र का निर्माण हुआ। इस मत के सबसे बड़े प्रचारक प्रो॰ वार्ड थे। उन्होंने इस मत को निम्नलिखित श्रेणियों अथवा अवस्थाओं द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है:—

(क) भ्रमण करनेवाले मनुष्यों का एक झुण्ड किसी नदी-तट, समुद्र-तट अथवा घाटी में घूमते हुए किसी दूसरे मनुष्य-दल को देखता। पारस्परिक संपर्क स्थापित करने की निष्फल चेष्टा के बाद वे एक दूसरे को शत्रु दल समझ लेते और उसके नाश करने की चेष्टा करते। इस प्रकार पारस्परिक युद्ध होने लगता और उस समय तक युद्ध होता जब तक कि दो दलों में से एक दल नष्ट नहीं हो जाता अथवा युद्धस्थल छोड़कर भाग नहीं जाता। विजेता कभी-कभी पराजित दल के मृतक शरीरों को खा भी जाते थे। इस प्रकार मनुष्य-मांस-भक्षण करने की प्रथा (Cannibalism) का जन्म हुआ। परन्तु थोड़े समय में उन्होंने अनुभव किया कि शत्रु को मारकर उसका मांस भक्षण करने से कहीं अधिक अच्छा यह होगा कि उसको दास बनाकर रक्खा जाय। पहले स्त्रियाँ दासी बनाई गईं और वे पत्नी तथा रखेलियों के रूप में रक्खी गईं। फिर क्रमशः पुरुष भी दास बनाये गये। दासत्व की प्रथा उस समय तक प्रचलित रही जब तक कि विजयी दल ने अपने हित में यह लाभ-दायक समझा कि पराजित शत्रु दासों को फिर स्वतंत्रता प्रदान की जाय, उन्हें अपने निवासस्थानों में रहने की अनुमति दी जाय और यह भी अधिकार दिया जाय कि वे अपने शासन के नियम स्वयं ही बनायें। इन सुविधाओं के देने के बाद भी पराजित दल विजयी दल के अधीन तथा उससे नीच समझा जाता था। इस अवस्था से दूसरी श्रेणी प्रारम्भ हुई।

(ख) जब दासत्व की प्रथा बहुत भारजनक प्रतीत हुई तब दासत्व के स्थान पर कर (Tribute) लेने की प्रथा का जन्म हुआ। कर पाने के प्रलोभन से योद्धाओं के समूह, जो उत्तम शस्त्र और संगठन द्वारा दूसरे दलों से प्रबल थे, निरन्तर लूट-मार करने की चेष्टा में घूमने लगे। विजय किया हुआ भूभाग मूलस्थान से अच्छा होने पर कभी-कभी विजयी दल ने वहाँ रहना भी निश्चय किया और उसी स्थान में रहते हुए वहाँ के पुराने निवासियों से, जिनको उसने परास्त किया था, कर वसूल करना शुरू किया। कुछ दिनों तक विजयी और पराजित दल एक दूसरे को द्वेष के भाव से देखते रहे और एक

दूसरे से घृणा करते रहे। विजयी दल पराजित दल को कोई अधिकार न देकर निर्बल कर देता और असामान्यता का पद देता। इस प्रकार जाति-भेद उत्पन्न हुआ जो कि आज तक कहीं-कहीं पाया जाता है। भारतवर्ष इस जाति-संस्था का सबसे बड़ा उदाहरण है। क्रमशः मध्यम श्रेणी के वर्ग का निर्माण हुआ, जिसका मुख्य कार्य व्यापार था और जो दोनों जातियों के बीच का वर्ग था। यहीं से घनिष्ठ सम्पर्क द्वारा तीसरी अवस्था उत्पन्न हुई।

(ग) बहुत समय तक साथ-साथ रहने से द्वेष-भाव का ह्रास हुआ और भिन्न-भिन्न दल पारस्परिक प्रेम से रहने लगे। विजेता दलित वर्ग के गुणों को पहचानने लगे और पराजित वर्ग में विजयी दल के प्रति घृणा-भाव घटने लगा। एक-दूसरे वर्ग में मिलकर रहने के लिए विवश होने पर दोनों वर्गों में जाति-घृणा का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। इसके बाद दोनों वर्गों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुए। विजयी वर्ग के लोग पराजित जातियों की सुन्दर कन्याओं से विवाह कर लेते। इसमें पराजित जातियों को भी सदैव विशेष विरोध न होता था। इस प्रकार शासकवर्ग शासित गण तथा दासों को अपने जैसे मनुष्य समझने लगे और शक्तिशाली का स्वार्थपूर्ण तथा मनमाना शासन शिथिल पड़ गया। इस अवस्था में यद्यपि व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक असमानता अवश्य विद्यमान थी फिर भी स्थिति पहले से कहीं ज़्यादा अच्छी थी। यहाँ से उन्नति की चौथी श्रेणी प्रारम्भ होती है।

(घ) न्याययुक्त अधिकार के भाव उत्पन्न होने के पहले अपराधी को विजेता की इच्छानुसार दण्ड दिया जाता था और उसके शासन में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे। जब यह माना जाने लगा कि नीची जातियों का वर्ग भी मनुष्यों का ही समूह है और उन पर भी भाव, व्यवहार तथा कर्म का ठीक वैसा ही प्रभाव होता है जैसा विजयी जातियों पर, तब यह मत स्वीकार किया गया कि नीची जातियों के भी समान अधिकार होने चाहिएँ। इस विचार को दृढ़ करने में परस्पर विवाह की प्रथा ने बड़ी सहायता की; क्योंकि अपनी स्त्री तथा अपनी स्त्री के भाई-बन्धु नीची जाति के भले ही क्यों न हों, फिर भी अपने सम्बन्धी का पद रखते हैं। घनिष्ठ सम्बन्ध द्वारा उनके प्रति सहानुभूति तथा प्रेमभाव का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले कुछ नियम बनाये गये और फिर न्याय-ग्रन्थ की रचना हुई, जिसके अनुसार नीची जातियाँ व्यावहारिक कर्म कर सकती थीं। नीची और ऊँची जातियों के बीच भी व्यवहार तथा अधिकार के नियम निश्चित कर दिये गये। इसी प्रकार धन-सम्पत्ति के प्रभुत्व संबंधी नियम भी बने। पहले विजेता सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी हुए, फिर क्रमशः नीची जातियों को भी सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त हुआ।

(ङ) जब संगठन इस श्रेणी को पहुँचा कि उसे 'राष्ट्र' कहा जाने लगा तब प्रत्येक वर्ग के अधिकार और धर्म निश्चित हो गये। जब नियम न्याय-निश्चित होने लगे तब यह आवश्यकता हुई कि कोई संस्था ऐसी हो जो मनुष्यों को केवल न्यायसंगत कार्य करने पर बाध्य कर सके अथवा जो सर्वसाधारण को केवल नियमानुकूल ही कार्य करने दे। इस प्रकार शासन-पद्धति का जन्म हुआ, जिसका ठीक रूप बाहरी परिस्थिति तथा मनुष्यों के विचार के अनुकूल होता था। साधारणतया शासन-पद्धति ने "एक व्यक्ति के निरंकुश शासन" का रूप धारण किया, जिसमें राज्याधिकार किसी चुने हुए विशेष व्यक्ति अथवा नायक को दिया जाता था। ये नायक कभी-कभी स्वयं ही अधिकारी बन जाते थे और कभी जनसम्मति द्वारा चुने जाते थे। यह अधिकार पैतृक सम्पत्ति की तरह उनके पुत्र-पौत्रादि को मिलते जाते थे। जनसंख्या की वृद्धि होने के कारण अन्य पुरुषों से शासन में सहायता लेना आवश्यक हुआ और इस प्रकार धीरे-धीरे शासन के अनेक रूप बन गये।

(च) जाति-द्वेष के ह्रास, ऊँची जाति के मनमाने शासन की शिथिलता एवं पारस्परिक सहायता की आवश्यकता के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न जातियाँ आपस में मिलकर रहने लगीं और जाति-भेद की मात्रा बहुत कम हो गई। ऊँची जातियों को अपनी सेना के लिए सैनिक नीची जातियों से लेने पड़े; व्यापारीगण के ग्राहक अधिकांश में नीची जातिवाले थे; और कलाकौशल के लिए श्रमजीवी भी इन्हीं नीची जातियों ही से मिलते थे। नीची जातियों की रक्षा का भार, नेतृत्व और आदेश ऊँची जातियों पर था। इस प्रकार हर जाति को अपने विशेष गुण बनाये रखने का अवसर मिला। उच्च विचार, सद्व्यवहार और सद्धर्म की स्थापना हुई। इस प्रकार सब जातीय मूल तत्त्वों को मिला-कर नई प्रथाएँ व संस्थाएँ स्थापित की गईं, जो दोनों वर्गों के मिश्रण के पूर्व की जातियों की पृथक्-पृथक प्रथाओं तथा संस्थाओं से कहीं श्रेष्ठ थीं।

(छ) जब कोई भारी संकट, जैसे शत्रु का आक्रमण,

आता तब सब जातियों में एक विशेष भाव समा जाता था, जिसे देशभक्ति कहते हैं। इस शक्ति-संचालन की भावना से भूमि अथवा देश के प्रति प्रेम उत्पन्न होता था, भिन्न-भिन्न जातियों को सामान्य ख़तरे का ज्ञान होता था और सब मिलकर संकट-निवारण में संलग्न हो जाते थे। इससे अधिक महत्व की बात यह होती थी कि इस प्रकार संकट के समय में भिन्न-भिन्न जातियाँ आपस में मिलकर राष्ट्र का रूप धारण कर लेती थीं।

यद्यपि जाति-संघर्ष के इस मत का एक अंश शान्तिमय जाति-मिलन भी कहा जा सकता है, परन्तु राष्ट्र-निर्माण अन्य संस्थाओं की तरह विशेषकर संघर्ष (Struggle) अथवा स्पर्धा (Competition) द्वारा ही हुआ करता है और हमें भी इसी प्रणाली का अध्ययन करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही राष्ट्र संघर्ष द्वारा बने, परन्तु जाति-संघर्ष मत इतना संकीर्ण है कि उसके आधार पर प्रत्येक राष्ट्र-संगठन की व्याख्या नहीं की जा सकती। बहुत-से राष्ट्र भिन्न-भिन्न कार्यक्रम द्वारा बने हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि कोई भी राष्ट्र बिना किसी प्रकार की स्पर्धा अथवा संघर्ष के नहीं बन सका। इसमें सन्देह नहीं कि और कारणों की तुलना में संघर्ष राष्ट्र-निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण और बली कारण रहा है। आजकल के समय में संघर्ष की तीव्रता बहुत कुछ हीन हो गई है और पिछले समय की बहुत-सी श्रेणियाँ अब अनिवार्य नहीं रही हैं।

भिन्न-भिन्न मतों में जाति-संघर्ष मत सबसे अधिक पुष्ट मत है परन्तु केवल इसी के आधार पर राष्ट्र-निर्माण की पूर्ण तथा सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। इतिहास के आधार पर एक और मत राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में प्रचलित है। कहा यह जाता है कि राष्ट्र की जन्म-दाता मनुष्य की सबसे छोटी सामाजिक संस्था है, जिसे वंश अथवा मनुष्य-परिवार कहते हैं। इस सम्बन्ध में पितृसत्ता वंश (जिसमें जीवन पर्यन्त पिता वंश का स्वामी होता है) को ही राष्ट्र की नींव बताया जाता है। ऐसे वंश में पिता केवल परिवार का मुखिया ही नहीं वरन् पुरोहित, न्यायप्रवर्त्तक तथा न्यायाध्यक्ष भी होता है। वह अपने परिवार का ही मुखिया नहीं होता वरन् उसके समस्त सम्बन्धी व बन्धुगण उसके अधीनस्थ रहते हैं। ज्यों-ज्यों परिवार-वृद्धि होती जाती है, मुखिया के कुछ अधिकार उसके ज्येष्ठ पुत्र को मिल जाते हैं और इस क्रम से परिवार शासकों की एक श्रेणी-सी बन जाती है। ज्यों-ज्यों परिवार की जटिल समस्याएँ बढ़ती जाती हैं और नवीन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है त्यों-त्यों परिवार का मुखिया परिवार-संचालन के कार्य में परिवार के अन्य सदस्यों से सहायता लेता है, और एक-एक कार्य अलग-अलग व्यक्तियों को बाँट देता है। प्रसिद्ध विद्वान् मार्गन ने परिवार मत के आधार पर राष्ट्र-निर्माण की व्याख्या की है। उसका कथन है कि पहले परिवार संस्था बनी। फिर कई सम्बन्धी परिवार आपस में मिलकर साथ-साथ रहने लगे और उनका एक सम्बन्धी परिवार-समूह (Gens) बना। इसके बाद कई बड़े-बड़े सम्बन्धी परिवार-समूहों में सम्पर्क स्थापित हुआ और कई सम्बन्धी परिवार-समूहों के मिलने से कुनबे (Phratry) की स्थापना हुई ; कई कुनबे मिलकर जन (Tribe) की रचना हुई और कई जन मिलकर जाति व राष्ट्र बन गये। मॉर्गन ने इस प्रकार के राष्ट्र-रचना के उदाहरण अमरीका के इराक्वीस और अज़टी जाति के आदिम निवासियों और पूर्वकाल के ग्रीस और रोम के निवासियों के इतिहास से दी है। प्रारम्भकाल की संस्थाएँ वास्तव में परिवार का एक विराट् रूप थीं और कुछ स्थानों में राष्ट्र-रचना एकदम परिवार-विकास द्वारा हुई भी है; परन्तु यदि इतने ही प्रमाण पर यह कह दें कि राष्ट्र-संगठन केवल विकास का फल है तो इस मत में भी वही त्रुटि रह जाती है जो पहले वर्णन किए हुए मतों में है, अर्थात् इस मत में भी संकीर्णता आ जाती है। बहुत-से अन्य कारण, जिनका परिवार-विकास से कोई सम्बन्ध नहीं है, राष्ट्र-संगठन के प्रेरक रहे हैं। एक प्रकार से परिवार-विकास राष्ट्र-निर्माण के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण कहा जा सकता है, परन्तु राष्ट्र-निर्माण का केवल यही एक कारण नहीं हो सकता।

राष्ट्र-निर्माण के विषय में राजनीतिज्ञों का साधारणतया स्वीकृत मत ऐतिहासिक अथवा विकासवादी मत (Evolutionary Theory) है। विकासवादी मत का आधार यह है कि हम किसी विशेष या निश्चित स्रोत से राष्ट्र-निर्माण का दृढ़ सम्बन्ध नहीं लगा सकते। राष्ट्र-संस्था किसी अन्वेषण का फल नहीं और न वह दैवयोग से अकस्मात् प्राप्त हुई है। यह क्रमशः बनती रही है और इसलिए इसका जो पूर्ण रूप हम आजकल देखते हैं, वह विस्तारक्रम द्वारा प्राप्त हुआ है। इस रूप के पूर्ण होने में बहुत-सी शक्तियों ने मिलकर कार्य किया है और वे शक्तियाँ भी देश तथा काल के अनुसार भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिली हैं। केवल जाति-संघर्ष, रक्त-सम्बन्ध, या संरक्षण की आवश्यकता ही ने इसे [illegible] नहीं बनाया वरन् धर्म, जलवायु, भौगोलिक स्थिति;

तथा कला-कौशल की उन्नति इत्यादि ने भी अपने-अपने ढंग से राष्ट्र-निर्माण पर अपना प्रभाव डाला है। सारांश यह है कि राष्ट्र का जन्म समाज द्वारा हुआ और समाज की उन्नति के साथ-ही-साथ राष्ट्र की भी वृद्धि हुई। कुछ स्थानों पर राष्ट्र-वृद्धि अधिक तीव्रता से हुई, क्योंकि वहाँ पर स्थिति अनुकूल थी। और ऐसे ही स्थानों पर मनुष्य ने भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अच्छी उन्नति की। इसी कारण से योरप तथा अमेरिका के महाद्वीपों में एशिया तथा अफ्रीका की अपेक्षा राष्ट्र-निर्माण अधिक सुदृढ़ हुआ है। एक ही जैसा वातावरण विविध संस्थाओं के निर्माण तथा वृद्धि में सहायक न हो सका। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि जो वातावरण राष्ट्र-निर्माण के लिए सहायक हो, सम्भव है कि धर्म-वृद्धि के लिए वही अनुकूल न हो। अथवा जो वस्तुएँ उद्योग की उन्नति का कारण हों, वे कला-कौशल की वृद्धि न कर सकें। परन्तु राष्ट्र पर भी अन्य संस्थाओं की नाईं परिस्थिति का प्रभाव पड़ा और अनुकूल वातावरण में राष्ट्र की उन्नति अधिक हुई और इसके विपरीत प्रतिकूल परिस्थिति में राष्ट्र-निर्माण का कार्य शिथिलतापूर्ण रहा। राष्ट्र-निर्माण को पूर्ण रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन शक्तियों का अध्ययन करें जो राष्ट्र-निर्माण में सहायक होती हैं। राष्ट्र-निर्माण में संलग्न सम्पूर्ण शक्तियों का अध्ययन एक विस्तारपूर्ण कार्य है, जिसमें समाज-निर्माण की लगभग प्रत्येक शक्ति का अध्ययन अनिवार्य होगा। इसलिए इस समय केवल मुख्य-मुख्य प्रेरक शक्तियों का ही अध्ययन किया गया है।

लेख के पूर्व भाग में सम्बन्धी तत्त्वों के प्रभाव पर विचार किया जा चुका है। उनका महत्त्व तो यहाँ तक है कि किन्हीं राजनीतिज्ञों ने उन्हें राष्ट्र-निर्माण का एकमात्र आधार तक कह दिया है। भौगोलिक प्रभाव के सम्बन्ध में यह बतलाया जा चुका है कि समाज पर स्थान का प्रभाव एक विशेष महत्त्व रखता है। स्थान ही अधिकांश में राज्य का रूप, आकार, महत्त्व तथा राष्ट्र की दशा निर्धारित करता है। यदि राष्ट्र सभ्य देशों में स्थापित है, तो उसकी उन्नति तेज़ी से होती है, परन्तु यदि राष्ट्र-निर्माण असभ्य देश में हुआ तो उसकी उन्नति उतने शीघ्र और उतनी अधिक नहीं होती। यदि देश के सीमान्त प्रकृति से सुरक्षित हों तो बहुत बलिष्ठ राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत अरक्षित सीमान्तवाले राष्ट्रों को रक्षा-प्रबन्ध की विशेष आवश्यकता होती है।

राष्ट्र के पड़ोसियों की स्थिति का भी राष्ट्र की वृद्धि पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि पड़ोसी योद्धा हैं तो राज्य का प्रभुत्व बहुत सुदृढ़ होगा और ऐसे राजतंत्र का जन्म होगा जिसमें चुने हुए थोड़े-से केन्द्रीय व्यक्तियों के हाथ में शक्ति होगी। ऐसे राष्ट्र में जल-स्थल दोनों ओर से रक्षा का प्रबन्ध अनिवार्य है। राष्ट्र के पड़ोसियों की दशा से यह भी ज्ञात होता है कि राष्ट्र स्वयं पराजित होगा अथवा दूसरे राष्ट्रों को पराजित करेगा। किसी भी राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पत्ति शत्रु को आकर्षित करती है, इसलिए राष्ट्र को शत्रुओं की ओर से सचेत रहना पड़ता है। इस तरह पड़ोसियों का प्रभाव राष्ट्र को आक्रमण से सुरक्षित रखता है। इसके विपक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि एकान्त राष्ट्र में शिथिलता आ जाती है और उन्नति करने की चेष्टा हीन हो जाती है। अतः भौगोलिक परिस्थिति तथा वातावरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं और ;इनको राष्ट्र-निर्माण के विचार में भूला नहीं जा सकता। इनकी उपेक्षा ही के कारण "समझौते" तथा "बल" पर निर्धारित राष्ट्र-निर्माण के मतों का खण्डन होता है।

धन-सम्पत्ति तथा उद्योग भी राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। जैसे ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार स्वीकृत हुआ वैसे ही सम्पत्ति-अधिकार के संरक्षण के साधन, स्वामित्व के नियम, और इन नियमों का पालन करानेवाले अधिपति की आवश्यकता प्रतीत हुई। ये कुछ ऐसे लक्ष्य थे जिन्होंने मनुष्य को राज्य-संगठन के लिए प्रेरित किया, जिसके द्वारा कुछ आवश्यकताएँ पूर्ण हुईं। जब सम्पत्ति और बढ़ी और नाना प्रकार के उद्योग प्रारम्भ हुए तब संरक्षण की आवश्यकता भी बढ़ी और सुरक्षा के लिए नये-नये कार्य-विधान बनाये गए। इस आवश्यकता ने उन लोगों को, जिनके पास सम्पत्ति अधिक थी, विवश किया कि वे राज्य-निर्माण में प्रमुख भाग लें और राज्य के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करें। जहाँ उद्योग की सब से अधिक वृद्धि हुई है, वहाँ धनीवर्ग राज्य पर सबसे प्रगाढ़ प्रभाव रखते हैं; विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जबकि उद्योग केवल चुने हुए कुछ व्यक्तियों के हाथ में ही सीमित हो। इसके विपरीत यदि धन-सम्पत्ति बराबर-बराबर बँटी होती है तो राज्य का रूप प्रजावादी होता है। इस संबंध में विचार करते समय उद्योग का विशेष रूप भी स्मरण रखना चाहिये। चरवाहों के जीवन ने पितृ-सत्तावाद की स्थापना की। उसके फलस्वरूप दासता ने जन्म लिया और शासक की आज्ञा का अवाध्य पालन होने लगा। कृषि के समय में चौहद्दी तथा जल-

स्रोतों के लिए झगड़े होते थे और इसलिए उनके निबटाने के नियम बनाये गये। शिकार और मछली पकड़ने के उद्यम में मारे हुए पशु को बाँटने के नियम बनाये गये। सम्पत्ति-संग्रह ही समाज-श्रेणियों का जन्मदाता है और इसी के कारण स्वामी और दास, प्रभु और सेवक, नौकर रखनेवाले और नौकरी करनेवाले तथा पूँजीपति और मज़दूर के दल बन गये। इसी प्रकार राज्य करनेवाले दलों का निर्माण हुआ, जिनकी जड़ सम्पत्ति का स्वामित्व है।

धर्म एक ऐसी शक्ति है, जिसको कहीं तो पूरा-पूरा श्रेय मिला ही नहीं और कहीं आवश्यकता से अधिक स्थान दिया गया। धर्म ने सामाजिक अनुशासन स्थापित किया; क्योंकि धर्म वह शक्ति है जो मनुष्य को एक संयम में बाँध देती है और निर्धारित पथ से अलग नहीं चलने देती। धर्म ने शक्तिशाली के प्रति आदर-भाव स्थापित करने में बहुत सहायता की, क्योंकि प्रारम्भ काल में धार्मिक तथा राजनीतिक नेता एक ही होते थे और उसके बाद भी धार्मिक और राजनीतिक नेताओं में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम और मैत्री रही। इस प्रकार धर्म ने राजनीतिक विधान को सुदृढ़ बनाया, जो धर्म की सहायता के बिना सम्भवतः इतना अच्छा न हो पाता। पहले धर्म जाति की वस्तु थी और उसमें किसी एक व्यक्ति को कुछ कहने का अधिकार न था। धार्मिक गुरु ईश्वर का अंश माना जाता था। इस प्रकार उसकी शक्ति महान् थी। बाद में राष्ट्रों ने धर्म को शासन में मिला दिया। इसका उदाहरण यहूदियों के धर्म में और कुछ अंश में रोम, स्पेन, फ़्रान्स, इँगलैंड और रूस के धर्मतंत्रों में पाया जाता था। दूसरी ओर धर्म ने राष्ट्र को अपने आदेश मनवाने और अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए भी प्रेरित किया।

रोमन कैथोलिक धर्म, इस्लाम, इंगलैंड की धार्मिक संस्था और प्योरिटन धर्म उपर्युक्त कथन के उदाहरण हैं। धर्म ने राष्ट्र को उसके अनुकूल नियम बनाने के लिए बाध्य किया, जिसमें पवित्रता-भंग, विश्रांति का दिन तथा धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध प्रचार रोकने आदि संबंधी नियम विशेष महत्त्व रखते हैं। कुछ समय से धर्म और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्ध के नियम से हम हट गये हैं और यह निश्चय हुआ है कि धर्म और राष्ट्र भिन्न-भिन्न रहें। परन्तु एक समय था जबकि अधिकांश नहीं तो बहुत से राज्यों में धर्म और राष्ट्र को पर्यायवाची समझा जाता था और धर्म और राष्ट्र साथ-साथ चलते थे।

यद्यपि आजकल का इतिहास वीर योद्धाओं और राजाओं के महान् कर्मों को पहले जैसा महत्त्व नहीं देता तथापि व्यक्तियों की शक्ति के योग को राष्ट्र-निर्माण के कार्य में भूला नहीं जा सकता। देश-विजय अधिकांश में मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा तथा सेना-बल का फल है। इसके उदाहरण बेबीलान, असीरिया और फ़ारस से मिलते हैं। सिकन्दर के अधीन ग्रीक तथा रोम की अद्भुत विजय, मध्यकाल के योरप के अनेक राजाओं का राज्य-विस्तार, नेपोलियन की विजयाकांक्षा, तथा १६१४ में जर्मनी की संसार-विजय करने की चेष्टा इत्यादि इसी के उदाहरण हैं। राज्य बढ़ाने के लिए विजय की गई। छोटे और शक्तिहीन राष्ट्र मिटा दिये गये। इसमें कहीं-कहीं शान्तिपूर्ण उपायों का भी प्रयोग किया गया, परन्तु साधारणतया युद्ध ही एक विशेष यन्त्र रहा। पोलैंड, हंगेरी, फ़िनलैंड और भारतवर्ष का पराभव इसी तथ्य के उदाहरण हैं।

कभी-कभी बड़े-बड़े राष्ट्र अपने निर्माणकर्त्ता की मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हो गये, जैसे सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो गये। जब केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो जाती है तो राष्ट्र टूट जाता है या उसके सीमा-प्रान्त केन्द्र से अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार रोम के महाराज्य का भी लोप हुआ और स्पेन के विजित देश उसके हाथ से निकल गये। यह भी हुआ है कि राजा की मृत्यु पर उसके पुत्र राष्ट्र को कई भागों में बाँट लें जैसे चारलेमेन का राज्य बाँटा गया था। फिर भी यदि भिन्न-भिन्न तत्व परस्पर सुदृढ़ रूप से मिले न रहे तो वे टूट कर अलग-अलग हो जाते हैं। यह सम्भव है कि वे शान्तिपूर्वक भी अलग हो सकते हैं तथा युद्ध द्वारा भी। कभी-कभी राष्ट्रों के भाग सहायक उपनिवेशों में बँट जाते हैं। कुछ काल बाद राष्ट्र और उपनिवेश का हित भिन्न होने से परस्पर द्वेष पैदा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। परन्तु साधारण प्रवृत्ति यह है कि राष्ट्र आपस में मिलकर रहें और बली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्र को अपने अधीन रक्खें। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आता है और आज भी चल रहा है। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से मिलन कभी-कभी शान्तिमय उपाय से परन्तु अधिकतर युद्ध द्वारा होता है और बली राष्ट्र निर्बल राष्ट्र को दासता स्वीकार करने के लिए और उससे मिलने के लिए बाध्य कर देता है। वर्त्तमान योरपीय महायुद्ध इस क्रम का स्पष्ट उदाहरण है। आजकल का राष्ट्र भिन्न जातीय तत्वों से बना है, क्योंकि इसका निर्माण विजय, व्यापार और सन्धि के द्वारा हुआ है। यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ है कि इसका विच्छेद दुष्कर प्रतीत होता है।
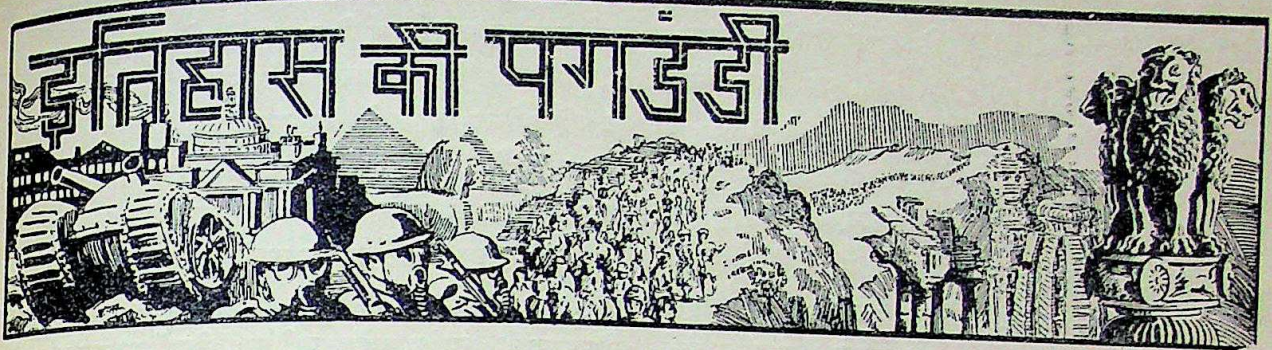
सभ्यताओं का उदय—(६) आर्य सभ्यता

वैदिक आर्यों के उत्थान से ६०० ई० पू० तक

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के समय की सभ्यता के क्षीण हो जाने के बाद क्या हुआ, इसका कुछ ठीक पता नहीं चलता। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसके बाद वैदिक आर्यों का उत्थान हुआ। उन्होंने पूर्ववर्ती सभ्यता के कुछ अंशों को ग्रहण कर लिया और शेष का अन्त कर दिया। ऋग्वेद में दास, दस्यु, असुर, पणि, राक्षस और पिशाचों का, जो आर्यों का विरोध करते रहे, संकेत पाया जाता है। इन अनार्यों को कुछ विद्वान् मोहनजोदड़ो-हड़प्पा काल की सभ्यता के निर्माता अथवा पोषक मानते हैं। अन्य विद्वान् इस धारणा से सहमत नहीं होते और कहते हैं कि असुर लोग दूसरी जाति के थे और उनकी सभ्यता भी उन्नत और स्वतन्त्र थी। यह विषय अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है और इसके निर्णय के साधन भी इतने कम हैं कि दृढ़तापूर्वक किसी सिद्धान्त को स्थापित करना दुस्तर है। ऋग्वेद में इन अनार्यों का अनादरसूचक वर्णन मिलता है। उसके अनुसार अनार्यों की बोली कर्कश और विचित्र थी; वे वैदिक कर्मों का पालन नहीं करते थे; वैदिक देवताओं, यज्ञों और अनुशासनों को नहीं मानते थे; शिश्नदेव अर्थात् लिंग के उपासक थे। उनका रंग काला था, उनकी नाक छोटी या चिपटी थी। किन्तु वे लोग निरे असभ्य और जंगली न थे। उनके पास पशुओं की सम्पत्ति थी। वे पुरों में भी रहते, जिनकी रक्षा के लिए उन्होंने दुर्ग बना रक्खे थे। कुछ क़िले पत्थर के और काफ़ी बड़े थे। उनके राज्य में लगभग एक सौ पुर थे। दासों के फुटकर व्यक्तियों के तो नाम मिलते हैं—जैसे इलीविश, धुनी, चुमुरी, पिप्रु, वर्चिन, शम्बर। किन्तु उनकी जातियों में सम्भवतः शिम्यु, कीकट, अजस, यक्षु और शिग्रु का ही संकेत मिलता है।

आर्यों के समय से जिस सभ्यता का हमारे देश में आरम्भ हुआ वह कुछ काट-छाँट के साथ आज तक चली आ रही है। इसी कारण यह कहा जाता है कि हमारे देश के इतिहास और सभ्यता का स्रोत आर्यों से ही चला है। यद्यपि बहुत अंश में यह बात ठीक मानी जा सकती है, किन्तु फिर भी एक कठिनाई यह है कि बुद्ध भगवान् के पूर्व के इतिहास का कालक्रम और समय-गणना अनिश्चित और संदिग्ध है। कालक्रमबद्ध इतिहास का आरम्भ बुद्ध भगवान् के समय से होने के कारण उनके पूर्व का इतिहास 'प्रागैतिहासिक' और उनके बाद का समय 'ऐतिहासिक' काल माना जाता है।

'प्रागैतिहासिक' काल का अविच्छिन्न इतिहास आर्यों से होता है। आर्य कौन थे? भाषाविज्ञान और सभ्यता के अनुसन्धान करनेवालों की धारणा है कि पुरातन काल में 'आर्य' जाति किसी एक स्थान में बसती थी। अनेक कारणों से वह अपने मूलस्थान से निकलकर योरप और एशिया में फैल गई। आर्य भाषा का प्रचार आयरलैण्ड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, ग्रीस, रोम, स्लाव प्रदेशों, प्राचीन फ़ारस और भारतवर्ष में हुआ। इससे अनुमान किया जाता है कि किसी समय आर्य जाति बड़ी प्रबल, उद्योगशील और पराक्रमी थी। उसने अपने मूलस्थान से निकलकर संसार की सभ्यता पर अपना अमिट सिक्का सदा के लिए जमा दिया।

आर्यों के मूलस्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ उत्तरी ध्रुव के प्रदेश, कुछ मध्य एशिया, कुछ दक्षिण-

पश्चिमीय योरप को उनका मूलस्थान मानते हैं। कुछ लोगों का यह विश्वास भी है कि आर्य लोगों का मूल-स्थान भारत के उत्तरी प्रदेशों में कहीं पर था। किन्तु मताधिक्य इस समय आर्यों का मूलस्थान उस प्रदेश में मानता है जो अरल समुद्र से डैन्यूब नदी तक फैला हुआ है। सच तो यह है कि उपर्युक्त धारणाएँ केवल अनुमान पर अवलम्बित हैं और उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो निश्चित अथवा सर्वमान्य कही जा सके। इसलिए इस विषय पर अधिक विवेचन करने का प्रयत्न अनुपयुक्त एवं व्यर्थ-सा है। तथापि यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि आर्यों का विस्तार योरप एवं एशिया में हुआ और वैदिक आर्यों के इतिहास की प्रारम्भिक रङ्गभूमि भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में पाई जाती है। उत्तर-पश्चिम की ओर से ही बढ़कर वे भारत के अन्यान्य प्रान्तों में फैलते और अपनी सभ्यता और आधिपत्य जमाते गये। कालान्तर में सारे देश में उन्हीं की विभूति फैल गई, जो आज तक जीवित और प्रगतिशील है।

प्रागैतिहासिक समय का शृंखलाबद्ध इतिहास मिलना दुस्साध्य है। वैदिक काल के ग्रन्थों में, महाभारत और रामायण एवं पुराणों में, कुछ सङ्केत, अनुश्रुतियाँ और घटनाएँ मिलती हैं, जिनके आधार पर पुरातन काल के इतिहास के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। किन्तु ये सब अपने-अपने ढंगों और अपने-अपने साधनों के अनुसार जो वर्णन करते हैं वे आपस में बहुत मेल नहीं खाते। उनमें आपत्तिजनक विभिन्नता है, जिससे किसी मत के स्थिर करने में स्वाभाविकतया संकोच और अपरिमित कठिनाई होती है। ऐसी दशा में क्षमता इसी में प्रतीत होती है कि वैदिक काल, विशेषतः ऋग्वेद के समय, के इतिहास की रूप-रेखा उसी में प्राप्य सामग्री से रची जाय, और उसके बाद का इतिहास आख्यानों, 'इतिहासों', नाराशंसी एवं पुराणों की सहायता से निर्मित किया जाय।

कहा जाता है, अपने मूलस्थान से डैन्यूब नदी के किनारे-किनारे बेलेकिया होते हुए आर्य लोग बास्फरस और डार्डनल्स को लाँघकर एशिया माइनर होते हुए ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और हिन्दुस्तान पहुँचे। रास्ते में वे अपने दल इधर-उधर छोड़ते आये। पश्चिम, मध्य और दक्षिण एशिया में उन्होंने अनेक प्रकार के परिवर्तन और संगठन किये, जिनका थोड़ा-बहुत वर्णन उचित स्थानों पर किया जायगा। इस स्थान पर केवल पुरातन भारत का प्रसंग उठाया जा रहा है।

अनुमान किया जाता है कि आर्यों ने कम-से-कम चार या साढ़े चार हज़ार वर्ष पूर्व हिन्दुस्तान में प्रवेश करना आरम्भ किया था। ऋग्वेद के समय में आर्यों का कार्यक्षेत्र भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त से यमुना नदी के तट तक था। उन लोगों के अनेक दल थे। गन्धारी उस प्रान्त में जो आगे चलकर गान्धार कहलाया; मूजवन्त कुभा (काबुल नदी) के आस-पास ; अलिन काफ़िरिस्तान के उत्तर-पूर्व-प्रदेश में; पक्थ और भलानस बोलन दर्रे के पास; शिव सिन्धुनद के समीप, और वहीं कहीं विषाणिन आदि जम गये। इसी प्रकार परुष्णी (रावी नदी) के आसपास अनु, द्रुह्यु बस गये। सरस्वती नदी के इधर-उधर तुर्वसु, यदु, पुरु और भरत आदि आकर बसे।

इन दलों का बहुत दिनों तक शान्त रहना सम्भव न था। आधिपत्य और प्रसार की ऐषणाओं से प्रेरित होकर उन्होंने अपना संगठन बढ़ाना आरम्भ कर दिया। सरस्वती, दृषद्वती और आपया नदियों से सिञ्चित प्रदेश ब्रह्मावर्त के नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ पर भरत दल आकर जम गया था। उनके राजा दिवोदास के साथ तुर्वसु, यदु और पुरु आदि युद्ध किया करते थे। यही नहीं, यमुना के आस पास रहनेवाले प्रबल अनार्यों से तो निरन्तर लड़ाई हुआ करती थी। उसके पुत्र अथवा पौत्र राजा सुदास के समय में उस सुन्दर भूमि-भाग के लिए पंजाब के अनु, द्रुह्यु आदि दश दलों ने विश्वामित्र के नेतृत्व में एक संघ बनाकर पश्चिम की ओर से ब्रह्मावर्त पर चढ़ाई कर दी। अपनी विजय को निश्चित करने के लिए उन्होंने ब्रह्मावर्त के पूर्व में रहनेवाले अनार्य दलों को उस ओर से आक्रमण करने पर राज़ी कर लिया। दोनों ओर से आक्रान्त होने पर भी सुदास ने वीरता और साहस के साथ शत्रुओं से युद्ध किया और दोनों को परास्त कर दिया। यह युद्ध बड़े मारके का था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरु, भरत, क्रिवि और सृंजय दल मिलकर एक हो गये और संयुक्त रूप से वे 'कुरु' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस संगठित शक्ति ने धीरे-धीरे आसपास के मत्स्य आदि आर्य दलों का दमन किया। प्रबल हो जाने से उत्साहित होकर उन्होंने पूर्व देश के अनार्यों का व्यवस्थित रूप से दमन करना आरम्भ किया। यद्यपि उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना और अनेक युद्ध करने पड़े तथापि अन्त में उनकी विजय हुई।

ऋग्वैदिक काल के अन्त में आर्यशक्ति का केन्द्र ब्रह्मावर्त था। वहीं से आर्य लोग अनार्यों को परास्त करते हुए आगे बढ़े। कुरुक्षेत्र उनका कर्मक्षेत्र हो

वैदिक काल में
भारतवर्ष
पक्थ
कुभा नं०
सुवास्तु नं०
क्रुमु नं०
गोमती नं०
केकय
यदु
अनु
वितस्ता नं०
असिक्नी नं०
द्रुह्यु
परुष्णी नं०
विपाशा नं०
मूजवन्त प०
उत्तर कुरु
उत्तर मद्र
सुतुद्री नं०
सरस्वती नं०
दृषद्वती नं०
सृंजय
यमुना नं०
गंगा नं०
पांचाल
कोशल
काशी
विदेह
मगध
रेवा नं०
सिन्धु नद
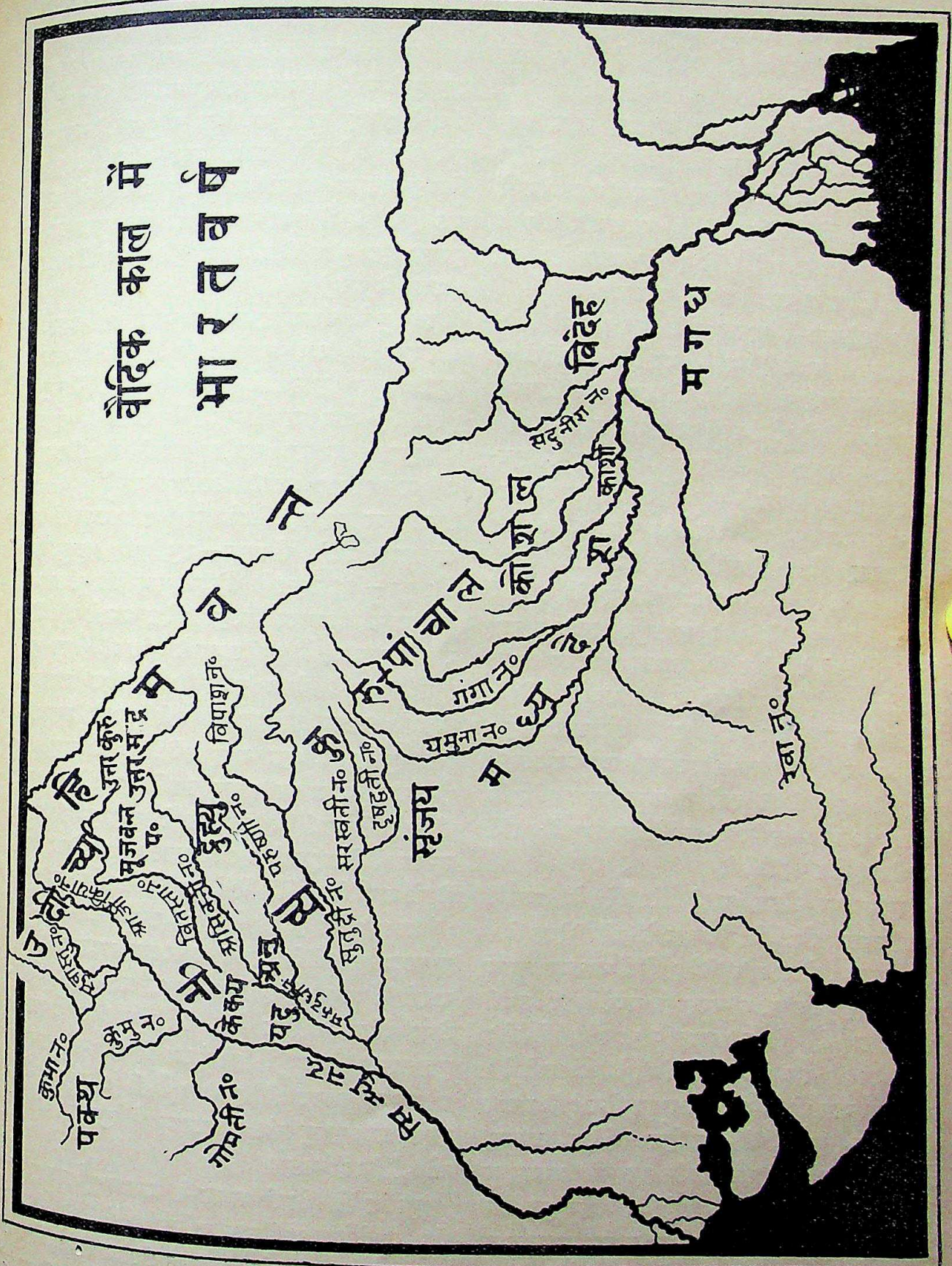
गया। सम्भव है कि इसीलिए उसका नाम 'धर्मक्षेत्र' पड़ गया हो। पंचनद अथवा 'पंजाब' का ध्यान भूलने लगा। यही नहीं वहाँ के रहनेवाले आर्यों को पूर्ववाले कुछ नीची दृष्टि से देखने लगे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के समय में मध्यदेश-निवासी कुरु, पांचाल, मत्स्य, वश, उशीनर, सत्वन्त, उत्तरकुरु और उत्तरमद्र आदि का उल्लेख अधिकतर पाया जाता है। कुरु-पांचाल प्रदेश के पूर्व के प्रान्त जैसे कोसल, विदेह, मगध और अंग का भी उल्लेख पाया जाता है। किन्तु विन्ध्याचल के दक्षिण के किसी प्रदेश का स्पष्ट लेख नहीं पाया जाता।

'ब्राह्मण'-काल में रहन-सहन में एक और भी विशेषता दिखायी पड़ती है। वह है नगरों और नगरियों का विकास। आसन्दीवन्त, काम्पील, परिचक्रा, कौशाम्बी, काशी आदि राजधानियों और नगरों का उल्लेख पाया जाता है।

इस समय का सबसे प्रमुख और प्रख्यात वंश कुरु-पांचालों का था। उनकी भाषा और विद्या, उनका रहन-सहन, उनका धर्म-कर्म आदर्श-सा माना जाता था। वे बलवान् और समृद्धिशाली, सुसंगठित और विद्याप्रेमी थे। कहा जाता है कि महाराज परीक्षित् के समय में वे अपनी उन्नति की चोटी पर पहुँचे। इसके पश्चात् शायद टीड़ियों के भयंकर विनाशात्मक आक्रमण अथवा ओलों के पड़ने से उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बिगड़ने लगी। फिर भी कौशाम्बी तक उनका प्रभुत्व शिथिल न होने पाया और उनके राजा जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ किये। इससे यह न समझना चाहिए कि अन्य राजे उनके अधीन थे; क्योंकि उस काल में औरों ने भी अश्वमेध यज्ञ किये थे।

इनके सिवा कोसल, काशी और विदेह के राज्य भी काफ़ी उन्नत और वैदिक सभ्यता के प्रसिद्ध पोषक थे। जलजातूकरार्य कोसल और विदेह दोनों पर राज्य करता था। किन्तु अंग और मगध के राज्यों और उनकी सभ्यता का कोई विशेष आदर न था। वहाँ के लोग अधिकतर अनार्य अथवा नीची श्रेणी के माने जाते थे। वहाँ आर्य-व्यवस्था का यथोचित पालन भी नहीं होता था।

उपर्युक्त वर्णन वैदिक साहित्य—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और प्राचीन सूत्र—के आधार पर है। किन्तु 'इतिहास' और 'पुराणों' का वर्णन कुछ और ही ढंग से है। उसका भी उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। उनके अनुसार सबसे पहले राजा वैवस्वत मनु हुए। उन्होंने सारे भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उनके नौ या दस पुत्र हुए, जिनमें से सबसे बड़े का नाम इक्ष्वाकु था। उसने अपनी राजधानी अयोध्या से मध्यदेश पर राज्य किया। इक्ष्वाकु के भाई करूप को शोण नदी के पश्चिम और गंगा के दक्षिण का प्रदेश मिला, सौद्युम्न को गया और पूर्वी प्रदेश दिये गये, शर्याति नाम के भाई को आधुनिक गुजरात का प्रदेश मिला। कहा जाता है कि मनु के एक पुत्री थी जिसका नाम इला था। इला का पुत्र पुरूरवा ऐल हुआ जिसके राज्य की राजधानी प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास) थी।

इक्ष्वाकु के वंशज सूर्यवंशी या मानववंशी कहलाये। और इला के वंशज चन्द्रवंशी या ऐलवंशी के नाम से प्रख्यात हुए। पुरूरवा के पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) और पड़पोते काश ने काशी की स्थापना की। पुरूरवा का एक पड़पोता ययाति, जो प्रतिष्ठान की गद्दी पर था, बड़ा प्रतापी निकला। उसने चारों ओर अपना राज्य बढ़ाया, जिससे वह पहला चक्रवर्ती राजा कहलाया। उसके पाँच पुत्र—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु—थे। यमुना के पश्चिमी भाग और चंबल नदी से शोण नदी तक का विस्तृत प्रदेश उनको बाँट दिया गया। पुरूरवा के प्रतिष्ठानवाले वंशज पौरव कहलाये। यदु के वंशज यादव और हैहय शाखाओं ने आगे चलकर इतिहास में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इसी यदुवंश के एक राजा शशिबिन्दु ने द्रुह्यु और पौरव राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसी की पुत्री बिन्दुमती ने अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा मान्धाता से विवाह करके सूर्य और चन्द्रवंश को मिला दिया, जिससे राजनीतिक परिस्थिति में भारी हेरफेर हो गया।

मान्धाता ने पौरवों के देश, कन्नौज का राज्य और सम्भवतः आनवों के राज्य पर सफल आक्रमण किये। यादवों को सम्बन्धी होने के कारण उसने छोड़ दिया, किन्तु दक्षिणस्थ हैहय देश को जीता। उसके भय से कुछ आनव और द्रुह्युओं को पंजाब की ओर भागना पड़ा, और कुछ आनव विदेह के पूर्व की ओर भाग गये। इस प्रकार इक्ष्वाकु वंश के उत्थान से पुरुवंश निस्तेज और श्रीहीन हो गया।

पुरुवंश की 'हैहय' शाखा ने प्रबलतापूर्वक इक्ष्वाकु-वंश का विरोध जारी रखा और तीन पीढ़ी में ही मध्य भारत पर अपना आतंक और आधिपत्य जमा दिया। हैहयों में कार्तवीर्य अर्जुन बड़ा प्रतापी, दिग्विजयी सम्राट्

हुआ। यद्यपि नर्मदा-तटस्थ भार्गवों ने कान्यकुब्ज और अयोध्या की सहायता से हैहयों को कुछ समय तक के लिए दबा लिया था, तथापि वे शीघ्र ही सँभल गये और उन्होंने शक, यवनों, कम्बोजों, पारदों और पहलवों की सहायता से अयोध्या और कान्यकुब्ज को विजय करके अधीनस्थ कर लिया। इक्ष्वाकुवंशी राजा सगर ने फिर अपने वंश का प्राधान्य स्थापित कर दिया और हैहय वंश का दलन कर दिया।

हैहय वंश के क्षीण होने पर चन्द्रवंश का झंडा दुष्यन्त और उसके सुप्रख्यात पुत्र भरत ने उठाया। प्रतिष्ठानपुर का मोह छोड़कर हस्तिनापुर में राजधानी स्थापित करके भरत और उसके वंशजों ने पाञ्चाल और काम्पिल्य तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। किन्तु एक बार फिर इक्ष्वाकुवंश का प्रताप बढ़ा। भगीरथ, दिलीप, रघु, दशरथ के पराक्रम से बढ़ते-बढ़ते इक्ष्वाकुवंशी श्री रामचन्द्रजी के समय तक अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गये। श्री रामचन्द्रजी ने सुदूर दक्षिण और लङ्का तक में अयोध्या का प्राबल्य स्थापित कर दिया। उनके समय में आर्य सभ्यता अपनी सबसे ऊँची चोटी पर पहुँची। उनका जीवन आर्य जाति के लिए आदर्श हो गया, यहाँ तक कि वह ईश्वर की तरह पूजे जाने लगे। उत्ताल तरङ्गमाला की तरह उठकर श्री रामचन्द्रजी के बाद इक्ष्वाकुवंश पतनोन्मुख होकर अस्त हो गया। फिर भी उस वंश के राजे बुद्ध भगवान् के समय तक राज्य करते थे। इक्ष्वाकु-वंश के क्षीण हो जाने पर चन्द्रवंशी शाखाओं का उत्थान फिर हुआ। किन्तु इन लोगों में एकता का अभाव था। यादव और पौरव इनकी सबसे प्रबल शाखायें थीं। यादवों के कई राज्य थे, जिनमें मथुरा में अन्धक और द्वारका में वृष्णि सबसे प्रमुख थे। इनके सिवा शाल्व, माहिष्मती, विदर्भ, अवन्ति और दशार्ण के भी यादव राज्य थे। इस प्रकार काठियावाड़ और गुजरात, नर्मदा-तट, दक्षिण, मध्य और पूर्वी राजपूताना और मथुरा तक यादवों का प्रभुत्व था। दूसरा प्रबल राज्य हस्तिनापुर का था। यद्यपि वहाँ के राजा संवरण को भरत-वंशज राजा सुदास ने, जिसकी विजय वैदिक साहित्य में वर्णित है, हराकर भगा दिया था, तथापि सुदास के बाद उसने अपना राज्य ही नहीं छीन लिया वरन् उत्तर-पाञ्चाल को भी जीत लिया। संवरण का पुत्र कुरु और भी प्रतापी निकला और दक्षिण-पाञ्चाल को जीतकर उसने कौरव वंश का प्रभुत्व प्रयाग तक पहुँचा दिया। स्थूल रूप से सिन्धुनद से प्रयाग तक कौरवों का आधिपत्य जमा था।

पौरवों की एक शाखा और भी थी जिसने ख्याति पाई। वे कुरु के वंशज वसुचैद्य के पुत्र बृहद्रथ के नाम से 'बार्हद्रथ' कहलाये। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा जरासन्ध था, जो मगध में राज्य करता था। उसके अधीनस्थ ऐसे निर्भीक और बलवान् राजा जैसे मथुरा का अन्धकवंशज कंस और चेदिराज शिशुपाल आदि थे। उसने अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र आदि प्रदेश विजय किये। कंस तो उसका दामाद और शिशुपाल उसकी सेना का प्रधान सेनाध्यक्ष था। इसने मथुरा से यादवों को भी निकाल दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा से आसाम और उड़ीसा और बघेलखण्ड से राजपूताना और नर्मदा तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। कंस-संहारक यादव श्रीकृष्ण, भरतवंशज भीमसेन और अर्जुन ने मल्लयुद्ध में जरासन्ध को मार डाला, जिससे मगध-राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। यद्यपि बार्हद्रथों का साम्राज्य नष्ट हो गया तथापि उनके वंशज ईसा के पूर्व छठी शताब्दी तक अवन्ति में राज्य करते रहे।

पाण्डवों की महिमा एकाएक इतनी बढ़ी कि जिससे कौरवों की उनके साथ पहले तो ईर्ष्या, फिर द्वेष और अन्त में शत्रुता हो गई। इसी शत्रुता से कुरुक्षेत्र में ऐसी समराग्नि प्रज्वलित हुई जिससे कौरवों का नाश और पाण्डवों का ह्रास ही नहीं हुआ वरन् वह आर्य-जाति के पतन का मुख्य साधन हो गई। हिन्दुस्तान के इतिहास में राम-रावण के युद्ध के बाद घोर विनाशक युद्ध महाभारत का हुआ। कौरवों और पाण्डवों ने जितनी बड़ी सेना कुरुक्षेत्र में जमा की उतनी बड़ी शायद आज तक फिर कभी न जमा हुई और न वैसे योद्धा ही कभी एकत्रित हो सके। इस युद्ध का समय ईसा से १४०० वर्ष पहले अनुमान किया जाता है। कौरवों के विनाश के बाद ही यादवों में ऐसा गृह-युद्ध ठना कि वे भी नष्ट हो गये।

कौरव-पाण्डवों और यादवों के पतन से भारत का राजनीतिक मानचित्र शीघ्रता से बदलने लगा। कौरवों को टीड्डियों (?) के उत्पात, गंगा की बाढ़ आदि के कारण धीरे-धीरे हस्तिनापुर से हटाकर कौशाम्बी में, जो वत्स देश में थी, अपनी राजधानी स्थापित करनी पड़ी। यहाँ का राजवंश शुद्ध कौरव वंश न था, वरन् कौरवों और पाञ्चालों के मिश्रण से प्रकट हुआ। ये मिश्रित समुदाय कुरु-पाञ्चाल के नाम से प्रख्यात हुए। इस समय तक उत्तरी भारत में दस राज्य उल्लेखनीय थे—गान्धार (पेशावर-रावलपिंडी प्रान्त), केकय (गान्धार से व्यास नदी तक), मद्र (काश्मीर और केकय से रावी नदी तक), उशीनर

(मध्य देश), मत्स्य (भरतपुर, अलवर, जयपुर रियासतें), कुरु - पाञ्चाल (बरेली, बदायूँ, फ़र्रुख़ाबाद), काशी, कोसल (अवध) और विदेह (तिरहुत)। इस काल में और राज्यों के स्वामी केवल राजा कहलाते थे, किन्तु विदेहपति की पदवी सम्राट् की थी। इसी से इस समय को 'जनकों' (विदेह के राजों) का युग कहते हैं। विदेह के जनकों का आधिपत्य संभवतः ईसा के पूर्व छठी सदी तक चलता रहा। इस युग में उपर्युक्त राज्यों के सिवा विदर्भ (बरार), कलिङ्ग (उड़ीसा), अस्सक (अश्मक ?) (गोदावरी के आस-पास), भोज (?) राज्य थे। अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द (भिलसा प्रान्त), मूतिव (मूषिक ?) आदि अनार्य जातियाँ दक्षिणी सीमाओं पर राज्य करती थीं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से कई अनुमान लगाये जा सकते हैं। (१) वैदिक और पौराणिक जातियों और वंशों में विशेष विभिन्नता नहीं है। (२) वैदिक वर्णनों से यह जान पड़ता है कि आर्य जाति और वंश पश्चिम से बढ़कर मध्य, पूर्व और दक्षिण में फैले। किन्तु पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार आर्य मध्यदेश (आधुनिक युक्त प्रान्त) से चारों ओर फैल गये। पश्चिमी प्रान्तों में उनका विस्तार अनुमानतः ईसा के पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में माना गया है। पौराणिक अनुश्रुति आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं करती। (३) वैदिक अथवा पौराणिक घटनाओं को कालक्रमबद्ध करना दुस्साध्य है। बड़ी घटनाओं का काल अनुमान द्वारा निश्चित करने में कुछ सफलता मिली है, किन्तु वह भी संदिग्ध है। (४) इतना तो फिर भी माननीय हो सकता है कि प्राचीन भारत में मानव, ऐल और सौद्युम्न वंशों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की और आर्य सभ्यता का सारे देश में विस्तार उनके साहस, पराक्रम और परिश्रम का फल है। (५) आरम्भ में आर्यों के दल और राज्य छोटे-छोटे थे, किन्तु बाद को बड़े राज्यों की ही नहीं वरन् साम्राज्यों की स्थापना हो गई। किन्तु कोई भी ऐसा साम्राज्य शायद नहीं हुआ जो सारे हिन्दुस्तान पर आधिपत्य स्थापित कर सका हो। साम्राज्य को पुत्रों और वंशजों में बाँटने की प्रथा, वंशानुगत ऐश्वर्य की आकांक्षाएँ एवं कलह, बड़े साम्राज्य के सुसंगठित शासन के स्थापन और संचालन के साधनों के अभाव, आदि के कारण प्राचीन साम्राज्य क्षोभग्रस्त रहे और अन्त में छिन्न-भिन्न हो गये। किन्तु हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश में अपनी सभ्यता को, जो हज़ारों वर्ष तक जीवित ही नहीं रही वरन् जिसमें संसार के योगक्षेम का सन्देश है, फैलाने और उच्च बनाने का ऐसा महान् कार्य है कि जिस पर कोई भी जाति या वंश अभिमान कर सकता है। उनकी इस सफलता की तुलना संसार के इतिहास में बहुत कम मिलती है। उनके इस अपूर्व प्रयास के कारण आज भी हिन्दुस्तान में आर्य सभ्यता जीती-जागती और प्रगतिशील है।

आर्यों की सभ्यता

दो हज़ार वर्ष के उपर्युक्त इतिहास की घटनाओं का ज्ञान तो हमें कम प्राप्त है, किन्तु उस समय की सभ्यता का चित्र अधिक स्पष्ट और आदरणीय है। आर्य सभ्यता के विकास की जड़ें वैदिक काल में दृढ़ हो गयी थीं। अतएव वैदिक काल के जीवन का स्पष्ट ज्ञान हो जाने से उसके पश्चात् की सभ्यता के विकास का ज्ञान सरल और सुग्राह्य हो जायगा। वैदिक काल को सुभीते के लिए दो भागों—पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल—में विभक्त किया गया है।

पूर्व वैदिक काल

सामाजिक व्यवस्था

वैदिक काल में आर्य लोगों का जीवन अस्थिर न था। उनका गृहस्थ - जीवन संगठित और परिमार्जित था। उनका कुटुम्ब पैतृक सिद्धान्तों पर बना था, जिसमें गृहपति की आज्ञापालन करना सबका कर्त्तव्य था। यद्यपि राजाओं में बहुविवाह होते थे तथापि साधारणतया एक स्त्री से विवाह ही आदर्श और प्रचलित था। पूर्व वैदिक काल में बाल्य विवाह का रिवाज न था। विवाह करने की स्त्री-पुरुष दोनों को बहुत-कुछ स्वतन्त्रता थी। भाई-बहनों और पिता-पुत्री में विवाह वर्जित था। विवाह तक तो कन्या का भार उसके माता-पिता या भ्राताओं पर था, किन्तु विवाह के बाद वह अपने पति के घर चली जाती थी और उसकी रक्षा करना उसी का कर्त्तव्य हो जाता था। विवाह में दहेज़ की प्रथा थी। कभी लड़की की क़ीमत देकर विवाह होता था। विवाह का विच्छेद मृत्यु तक नहीं हो सकता था। विवाह का लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करना था। यदि स्त्री के सन्तान होती तो विधवा हो जाने पर उसका पुनर्विवाह नहीं होता था। सन्तान न होने से यदि विधवा चाहती तो अपने देवर से व्याह कर सकती थी। सती-प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था। विवाहित स्त्री का कुटुम्ब में मान और आदर था। वह पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेती थी। उसकी इच्छाओं का श्वसुर, सास, पति के भाई-बहन आदर करते थे। गृहस्थी का

रामायण और महाभारत के अनुसार
भारतवर्ष

हिमवत पर्वत

शाक, तुषार, गांधार, कश्मीर, केकय, तक्षशिला, मद्र, कुलिन्द, बाल्हीक, सौवीर, यातुधान, अम्बष्ठ, पारद, सिन्धु, शूद्र और आभीर, मत्स्य, कुरुक्षेत्र, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, पांचाल, किरात, पांशुराष्ट्र, शूरसेन, मथुरा, कोसल, अयोध्या, विदेह, प्राग्ज्योतिष, मालव, अवन्ती, दशार्ण, काशी, मगध, करुष, पुण्ड्र, कुन्तल, उत्कल, द्वारका, माहिष्मती, निषध, विदर्भ, दक्षिण कोशल, यादव, कुंतिराष्ट्र, आन्ध्र, कलिङ्ग, महेन्द्र, कुन्तल, कांची, द्रविड़, चोल, केरल, पांड्य

सिन्धु नदी, वितस्ता नदी, चन्द्रभागा, विपाशा, सतद्रु नदी, सरस्वती, यमुना, गंगा नदी, विंध्य पर्वत, नर्मदा नदी, रिक्ष पर्वत, तापी नदी, गोदावरी, कृष्णा नदी, तुंगभद्रा नदी, कावेरी नदी, सह्य पर्वत, मलय पर्वत

Girish.

वैदिक युग और आज के भारतवर्ष में भौगोलिक दृष्टि से बहुत अंतर था। तत्कालीन नदियों के पथ आज से बहुत-कुछ भिन्न थे—उनकी सूखी घाटियाँ इस बात की साक्षी हैं। कई नदियों के नाम भी दूसरे थे जैसा कि ऊपर के मानचित्र से स्पष्ट है। इस मानचित्र में नदियों और पर्वतों के नाम काले रंग में और नगर, देश तथा जातियों के नाम लाल रंग में दिखाये गये हैं।

निर्वाह करने में उसका अनुशासन माना जाता था। पिता-पुत्र के सम्बन्ध भी अच्छे थे। पिता के मरने पर उसकी सम्पत्ति पुत्र को मिलती थी न कि पुत्री को। पुत्र न होने पर पुत्री को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता था।

आर्थिक जीवन

आर्य की मुख्य जीविकावृत्ति पशुपालन और कृषि पर निर्भर थी। बैल जोतने और बोझ ढोने के लिए रखे जाते थे और घोड़े सवारी, घुड़दौड़ और युद्ध के लिए। उनके अलावा गाय, भैंस (?), बकरी, भेड़, गधे और कुत्ते भी पाले जाते थे। जानवरों के कान पर उनके स्वामी का चिह्न बना दिया जाता था। 'गोपाल' पशुओं को 'गोष्ठ' में चराने ले जाते थे। लोग शिकार भी खेलते थे।

उर्वरा भूमि की जुताई में छः, आठ और बारह तक बैल नाथे जाते थे। यद्यपि कुओं, झीलों और कुल्याओं (नहरों) एवं नालियों (सूर्मी सुशिरा) आदि से सिंचाई होती थी, किन्तु फिर भी कृषि जलवृष्टि पर ही निर्भर थी। 'शकन' या 'करीश' नाम की खाद का खेतों में प्रयोग किया जाता था। दैविक उत्पात—जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, कीड़ों और पक्षियों—से खेती को भय रहता था। अनाजों को वे यव या धान्य कहते थे। यद्यपि धान्यों के नाम नहीं मिलते तथापि उत्तर काल के संकेतों से जान पड़ता है कि वे चावल, जौ, सरसों, तिल, मसूर, गोधूम आदि की खेती करते थे।

उद्योग-धन्धे और व्यापार

बढ़ई (तक्षण) रथ और गाड़ियाँ तो बनाते ही थे, वे लकड़ी पर नक्क़ाशी का काम भी करते थे। लोहार (कर्मार) धातु के बरतन और औज़ार बनाते। सोनार सोने के आभूषण बनाते। चमड़े का काम करनेवाले गोफन, धनुष की ज्या, तसमे, रास, कोड़े, थैले और डोल बनाते थे। चमड़े की रँगाई भी होती थी। कपड़ा बुननेवाले (वाय) करघों पर कपड़े बुनते। स्त्रियाँ अन्य गृहस्थी के कामों के सिवा ज़री का या बेलबूटे का काम, कताई, चटाई की बुनाई और पिसाई का काम करती थीं।

वणिक विनिमय द्वारा व्यापार करते थे। मोल-तोल पर झकझक होती थी। इस विनिमय का मान प्रायः गाय होती थी, किन्तु 'निष्क' नामक सोने के सिक्के भी प्रचलित थे। ज़मीन का व्यापार नहीं होता था यद्यपि उस पर स्वामी का अधिकार माना जाता था। क़र्ज़ भी चलता था, विशेषतः जुआ खेलने के व्यसन के कारण। मूल का अष्टमांश अथवा षोड़शांश [illegible] में लिया जाता था। यदि क़र्ज़ लेनेवाला अदा न कर सके तो वह दास बनकर उऋण हो सकता था। स्थल के सिवा जल-मार्ग से नावों पर व्यापार होता था।

रहन-सहन

आर्य लोग दूध, पनीर, दही और घी के शौक़ीन थे। उनके साथ अनाजों को मिलाकर वे अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ बनाते थे। जिनको मांस का शौक़ था वे प्रायः बकरी और भेड़ का मांस खाते। गाय को मारना वे बुरा मानते थे। उसे वे 'अघन्य' समझते थे। हाँ, ब्याह-शादी के अवसरों अथवा अतिथि-सत्कार के लिए बैल का मांस भी चलता था। मूजवन्त पर्वत में उत्पन्न होनेवाली सोमलता से वे एक रस तैयार करके बड़े चाव से पीते और उसके गुण का गान करते थे। उससे उन्हें सरूर और हर प्रकार की स्फूर्ति मिलती थी। कुछ लोग 'सुरा' नाम की नशीली शराब पीते थे। उसके नशे में कभी-कभी सभाओं में तू-तड़ाक से मारपीट तक की नौबत आ जाती थी।

पोशाक में उन्हें सादगी पसन्द थी। वे दो वसनों का प्रायः प्रयोग करते थे—एक (नीवी) कमर पर और दूसरा (अधिवास) ऊपरी भाग के लिए। उनके वसन प्रायः भेड़ी के ऊन के होते थे। उनके वस्त्र पर बेलबूटे और ज़री का काम भी बनाया जाता था। त्यागी अथवा ब्रह्मचारी लोग चर्माम्बर (अजिन, मल) का परिधान बनाते थे। सिले कपड़े या तो तब प्रचलित नहीं हुए थे या उनका रिवाज न था। कपड़ों की सादगी को वे आभूषणों के प्रेम से पूरी कर देते थे। स्त्री-पुरुष दोनों कर्णफूल, कंठे, मालाएँ, अँगूठियाँ, हाथों और पैरों के कड़े और रत्नों का बड़े शौक़ से प्रयोग करते थे। दोनों लम्बे बाल रखते थे। पुरुष उनको जूड़े की तरह बाँधते और स्त्रियाँ गूँथकर बाँधती थीं। बालों की तेल-कंघी होती रहती थी। बाल बनवाने का रिवाज न था। यद्यपि कुछ लोग दाढ़ी मुड़वाते थे, किन्तु फ़ैशन दाढ़ी रखने का था।

आर्य लोग मनचले और आमोद-प्रमोद के प्रेमी थे। स्त्रियों में पर्दा न था। वे बेधड़क पुरुषों से मिलती-जुलती थीं। धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं, खेल-कूद एवं आमोद-प्रमोद में वे भी भाग लेती थीं, जिससे कि सामाजिक जीवन में कोमलता, मधुरता और सुन्दरता का निरन्तर संचार रहता था। युवकों और युवतियों में मैत्री और प्रेम भी इन्हीं अवसरों पर कभी-कभी हो जाते थे। युवक युवतियों को प्रसन्न और अनुकूल बनाने के लिए तन, मन, धन और सबसे अधिक वचनों से विविध प्रयत्न किया

करते थे। युवतियाँ वीर, धीर और तेजस्वी पुरुषों को प्राप्त करने की इच्छा रखती थीं।

आर्यों को जुआ खेलने की बड़ी लत थी। वे गहरे दाँव लगाते थे। वे कुछ न रहने पर अपना शरीर भी दाँव पर लगा देते थे और हारने पर दास हो जाते थे। किन्तु लड़कों को जुआ खेलने की आज्ञा न थी। इसके सिवा रथों की दौड़ और घुड़दौड़ का भी उन्हें विचित्र व्यसन था। नाचने, गाने और बजाने का स्त्रियों और पुरुषों को बड़ा प्रेम था। वे साथ मिलकर गाते, बजाते और नाचते भी थे। उनके पास हाथ से और फूँककर बजाने के कई बाजे थे। उनकी विजय का बाजा दुन्दुभी (ढोल) थी।

धर्म-कर्म

आर्यों के धार्मिक विचार और आचार भी सरल थे। वैदिक धर्म में पितृपूजा और देवपूजा प्रमुख कर्त्तव्य थे। उनका पूजा और कर्म का मुख्य साधन यज्ञ था। उनके देवता चार प्रकार के थे। प्रथम, वे देवता जो कि प्रकृति की प्रकाशक और सञ्चालक शक्तियों के काल्पनिक स्वरूप थे—जैसे द्यौ, पृथ्वी, इन्द्र, वरुण, सूर्य, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य (मेघ), उषा आदि। दूसरे, वैसे ही कल्पित गृह-देवता जैसे अग्नि और सोम। तीसरे, भावजन्य देवता जैसे श्रद्धा और मन्यु (क्रोध)। चौथे, गौण देवता जैसे गन्धर्व, अप्सरा आदि। कभी-कभी वे देवताओं की कल्पना पशुरूप में भी करते थे। किसी विशेष देवता को स्वानुकूल और प्रसन्न करने के लिए वे विधि-विधानपूर्वक यज्ञ करते थे। यज्ञों में दूध, अन्न, घी, सोम और कभी-कभी मांस का प्रयोग करते थे। यज्ञों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार वेद-मंत्रों के साथ हवन किया जाता था। यद्यपि देवताओं से उन्हें भय भी रहता था, तथापि उनकी देवता-सम्बन्धी भावनाओं की प्रेरणा केवल भय के कारण न थी। देवताओं की मित्रता और उनको प्रसन्न करके अपने उद्देश्य की सिद्धि करना उनका ध्येय था। उनका विश्वास था कि विधिपूर्वक यज्ञ करने से देवता उद्देश्य-पूर्त्ति करने को बाध्य हो जाते हैं। यज्ञ के विधान ऐसे लम्बे-चौड़े थे कि उनके करने के लिए कम से-कम सात व्यक्तियों की आवश्यकता थी। बड़े यज्ञों में खर्च भी अधिक होता था, जिससे साधारण स्थिति के व्यक्ति उनके करने में असमर्थ थे।

अनेक देवताओं के स्वरूप की कल्पना करते हुए भी वैदिक तत्वज्ञों ने उनमें एक ही देवाधिदेव का विविध रूप में प्रकाश का चमत्कार देखा। इसी से यह कहना अनुचित न होगा कि तत्वतः आर्य एकेश्वरवादी थे। वस्तुतः वे सृष्टि को भी उसी अव्यक्त विराट् पुरुष का व्यक्त रूप मानते थे। उसी के नाना नाम-रूप हैं, जो देश-काल-पात्र के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। धार्मिक जीवन एवं यज्ञादि से वे बल, स्फूर्ति, तेज, पराक्रम, समृद्धि और स्वर्ग की कामना करते थे। ऐहिक लोक में अभ्युदय और और विहित सफलता की ओर उनका पूरा ध्यान रहता था। यद्यपि वे यमलोक मानते थे तथापि मरणोपरान्त पारलौकिक चिन्ता अथवा निराशावाद उनको कभी चिन्तित अथवा व्यथित नहीं करता था। वैदिक आर्य प्रायः मृतकों को जला देते थे। किसी-किसी दशा में 'निखात' (दफ़नाने) अथवा शव को पशु-पक्षी के आहार के निमित्त छोड़ देने का भी रिवाज था। वे पितरों का श्राद्ध और तर्पण भी करते थे।

विद्या और साहित्य

वैदिक आर्यों का आदर्श सरल किन्तु उच्च जीवन का था। विद्यार्थी गुरु के घर पर रहकर वेदादि का अध्ययन करते थे। उनको बहुत सीधा-सादा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनकी दिनचर्या बहुत समझ-बूझकर बनाई गई थी। आलस्य, व्यर्थ बकवाद, अनुद्योग और व्यर्थ आलाप-प्रलाप के लिए गुंजाइश ही नहीं रक्खी गई थी। गुरु की सेवा और शुश्रूषा करना अनिवार्य-सा था। मेधा, धारणाशक्ति और प्रज्ञा तीनों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य था। धारणाशक्ति के बिना काम भी न चल सकता था, क्योंकि विद्यार्थियों को वेदवेदांग सस्वर कण्ठाग्र करने पड़ते थे। उच्चारण और स्वर में ज़रा-सी भी भूल अक्षम्य मानी जाती थी।

ऋग्वेदसंहिता की भाषा, व्याकरण, काव्यकल्पना और विचार सभी व्यवस्थित और प्रौढ़ हैं। ध्वनि, स्वर, और शब्द विद्या काफ़ी उन्नत थी। वैदिक शब्दों, स्वरों और वाक्यों की शुद्धता की रक्षा के लिए 'प्रातिशाख्य' और 'अनुक्रमणी' की रचना की गई थी।

नैतिक संगठन

वैदिक आर्यों के नैतिक संगठन का मूलाधार गृह अथवा कुल था। कुलवाले कुलपति या गृहपति के आज्ञानुवर्ती होते थे। कई कुलों के समूह और उनके निवासस्थान को 'ग्राम' कहते थे। 'ग्रामणी' उसका नेता होता था। ग्राम से बड़ा संगठन 'विश' कहलाता था और विशों से बड़ा 'जन' कहलाता था। अनुमान किया जाता है कि जन का अर्थ क़बील है और जनों का सामूहिक रूप विश कहलाता था। पर यह अनुमान संदिग्ध-सा है।

राज्य के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

राष्ट्र का अधिपति राजा शान्ति अथवा समर में जन का नेता माना जाता था। वह बड़े ठाठ के साथ महल में अपने सेवकों के साथ रहता था। उसकी आमदनी का मुख्य साधन 'बलि' अर्थात् कर था। उसका चुनाव अथवा उसके उत्तराधिकारी के राजत्व का संस्थापन जनों की सभा-समिति करती थी। सभा या समिति का संगठन निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होता। सभा का प्रधान 'ईशान' कहलाता था। राजा का निर्वाचन, निष्कासन अथवा पुनर्वार निर्वाचन सभा करती थी। समिति के सहयोग और परामर्श से राजा शासन करता था।

वैदिक आर्य यों तो शान्तिप्रिय थे, किन्तु अवसर पड़ने पर वे युद्धप्रेमी भी हो जाते थे। आत्मरक्षा एवं विजय-कामना के लिए युद्ध होते थे। सेना में पैदल और रथी रहते थे। रथों में घोड़े जोते जाते थे और रथ चमड़े से मढ़ा होता था। घुड़सवार अथवा हाथियों की सेना का प्रयोग देखने में नहीं आता। सैनिक धनुष-बाण, फरसों, बर्छों, भालों, असि और गोफनों का प्रयोग करते थे। शरीर-रक्षा के लिए वे धातु के बने वर्म, अत्क, हस्तघ्न, शिरस्त्राण आदि पहनते थे।

उत्तर वैदिक काल

२००० वर्ष के इतिहास में पूर्व से उत्तर काल की सभ्यता में परिवर्तन होना आश्चर्यजनक नहीं। उपर्युक्त क्रम से संक्षेप में मुख्य परिवर्तनों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

सामाजिक

यद्यपि ऋग्वेद में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र का उल्लेख हुआ है, किन्तु उस समय वर्ण-व्यवस्था जटिल न थी। कम-से-कम पहले तीन वर्णों में खानपान और विवाह की सामाजिक विभिन्नता नगण्य थी। धीरे-धीरे उसमें कठोरता बढ़ने लगी। यहाँ तक कि सूत्र-काल में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था जन्म से गिनी जाने लगी एवं प्रौढ़ हो गई। सूत्र-काल में वर्णों में रोटी-बेटी का सम्बन्ध बहुत नियन्त्रित और क़रीब-क़रीब बन्द-सा हो गया, यद्यपि कुछ-कुछ द्वार खुला रखा गया। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये। तथापि शूद्र की परिस्थिति बहुत ख़राब नहीं हुई। मनुष्य का जीवन चार आश्रमों में बाँट दिया गया—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस।

रहन-सहन

वर्ण-व्यवस्था के दृढ़ और जटिल हो जाने से एवं आर्थिक उन्नति होने से रहन-सहन में भी कुछ परिवर्तन हो गया। विवाह आठ प्रकार के माने गये, जिनमें से राक्षस और पैशाच गर्हणीय गिने जाते थे। दहेज़ लेकर विवाह करना 'आसुर' समझा जाता था। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्त्तव्य निश्चित हुआ कि वह पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन किया करे। शूद्रों का उपनयन नहीं होता था, अतएव वे द्विज नहीं गिने जाते थे।

आर्थिक

कृषि में उन्नति हुई। हल के बड़े-बड़े फाल बनाये जाने लगे, जिनके चलाने के लिए बारह जोड़ी बैलों तक की आवश्यकता पड़ गई। गोबर की खाद का भी खेतों में प्रयोग होने लगा। साल में दो फ़सलें पैदा की जाने लगीं। मुद्ग (मूँग?) और माश (उड़द) बोए जाने लगे। इसी प्रकार कला-कौशल और व्यापार में भी उन्नति हुई। नये धंधे और रोज़गार पैदा हो गये। मछलीवालों, हल चलानेवालों, धोबियों, नाउओं, रंगसाज़ों, बूचड़ों, चाकरों, समाचारवाहकों, जौहरियों, नटों, मल्लाहों, डलिया-रस्सी बनानेवालों और कुम्हारों आदि का उल्लेख पाया जाता है। रुपये का लेन-देन बढ़ गया। चाँदी, लोहा, काँसा, सीसा, जस्ता और टीन (त्रपु) का भी व्यवहार होने लगा। सोने, चाँदी और ताँबे के कई प्रकार के सिक्के भी प्रचलित हो गये। कई प्रकार के नाप-तौल के साधन बनाये गये। सूद की दर दस सैकड़ा थी, किन्तु दो से पाँच सैकड़ा मासिक सूद भी प्रचलित था। ब्राह्मण और क्षत्रिय को सूद लेना मना था। वे कृषि और व्यापार भी अच्छा नहीं समझते थे।

धर्म-कर्म

धार्मिक क्षेत्र में पहले तो कर्मकाण्ड में बड़ी उन्नति अथवा यों कहिए कि पेचीदगी हो गई। यज्ञों में अब सात के बदले सत्रह कर्मकाण्डियों की आवश्यकता हो गई। किन्तु यज्ञ के विधान में कुछ कृत्य वास्तविक के बजाय लाक्षणिक गिने जाने लगे। यज्ञ की परिभाषा विस्तृत, व्यापक हो गई। सृष्टि-रचना और सृष्टि-पालन आदि भी एक प्रकार का यज्ञ माना जाने लगा। आत्मन्, कर्म, पुनर्जन्म, माया और मुक्ति की चर्चा दिनोंदिन बढ़ने लगी। आत्मज्ञान यज्ञादि कर्मकाण्ड से अधिक श्रेयस्कर समझा जाने लगा। 'तत्वमसि' का मन्त्र उपनिषदों में से प्रचलित हो गया। इसके सिवा वैदिक देवताओं में से रुद्र और विष्णु का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ने और अन्य देवताओं का घटने लगा। इस प्रकार आधुनिक हिन्दू धर्म की रूप-रेखा स्पष्टतया दिखाई पड़ने लगी।

विद्या-शिक्षा

आर्यों का विद्या-व्यसन भी ख़ूब उन्नति करता रहा।

शिक्षा का आदर्श श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु और अमृतत्व प्राप्त करना था। शिक्षा प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष, बत्तीस वर्ष अथवा जीवन पर्यन्त के शिक्षा-क्रम बना दिये गये थे। विद्यार्थी और विद्वान् भ्रमण करके शिक्षा प्राप्त अथवा प्रदान करते थे। परिषदों और सभाओं में ज्ञान-विज्ञान पर सत्यासत्य-निर्णय के लिए शास्त्रार्थ और व्याख्यान होते थे। स्त्रियाँ भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करके शास्त्रार्थ में भाग लेतीं और धर्म का निरूपण करती थीं। किन्तु धीरे-धीरे उनके अधिकार कम होते जाते थे। क्षत्रिय लोग विद्या और विद्वानों का समादर ही नहीं करते वरन् उसमें पारंगत होने की श्लाघ्य चेष्टा करते थे। वेदों का तत्व-निर्णय करने के लिए छः वेदांगों (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, कल्प) की रचना हुई। उपवेद (धनुर्वेद और गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, स्थापत्यवेद), इतिहास और पुराणों (प्राचीनतम) का संकलन किया गया। कल्प का अंग विशेष रूप से बढ़ा। श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र उसी के उपांग हैं।

नैतिक संगठन

वैदिक आर्यों का आरम्भिक जीवन ग्राम और पुर पर अवलम्बित था। किन्तु धीरे-धीरे बड़े नगरों, राज्यों और साम्राज्यों का विकास हुआ, जिससे उनमें नागरिकता एवं राष्ट्रीयता की विशाल भावनाएँ उत्पन्न हो गईं। सम्राटों के लिए विशेष यज्ञों का विधान रचा गया। राजा के लिए 'राजसूय', सम्राट् के लिए 'वाजपेय', स्वराट् के लिए 'अश्वमेध', विराट् के लिए 'पुरुषमेध' और सर्वराट् के लिए 'सर्वमेध' यज्ञों का विधान बनाया गया। इनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि राजनीतिक विकास की सीढ़ियाँ थीं, जो एक दूसरे से उत्तरोत्तर विस्तृत और बड़ी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक महत्वाकांक्षी राजा अपना आधिपत्य उत्तरोत्तर बढ़ाने के प्रयत्न में लग गया, जिसमें शान्ति का वातावरण क्षीण होने और युद्ध का बढ़ने लगा।

राजा की शक्ति यद्यपि बढ़ती चली गई तथापि उसकी स्वच्छन्दता के बन्धन ज्यों-के-त्यों रहे। राजा के निर्वाचन की प्रथा जारी रही। कर्त्तव्य-विमुखता के लिए उसको राज्यच्युत करने का अधिकार जनसभा के हाथ में रहा। राज्याभिषेक के समय उसे जो वायदे करने पड़ते थे उनसे वह बँध जाता था। मन्त्रियों, सभा-समितियों का भी दबाव उसे माननी पड़ता था। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा के ऊपर धर्म था। धर्म की प्रतिपालन करना उसका परम कर्त्तव्य था। किन्तु धर्म का प्रतिपादन ब्राह्मणों के हाथ में था। उसको पूग (ग्रामसंस्था), श्रेणी, जाति, कुल एवं जनपद के नियमों का सम्मान करना पड़ता था। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा में दैविक गुण तो अवश्य माने जाते थे, किन्तु उसके कोई दैविक अधिकारों का उल्लेख नहीं।

राजा के मन्त्री रत्न कहलाते थे। पहले उनकी संख्या पाँच थी, किन्तु बाद में बारह हो गई। उनमें पुरोहित, राजन्य, सेनानी, संग्रहीता, भागदुह आदि के सिवा महारानी, सबसे प्रिय रानी, त्यक्त रानी एवं अक्षावाप (द्यूत मन्त्री) शामिल थे। अनुमान किया जाता है कि राजा के प्रमुख साथी और सेवक ही कालांतर में मन्त्री हो गये। धीरे-धीरे इनकी संख्या सैंतीस तक पहुँची जो कार्य-सम्पादन में विलम्ब करनेवाली हो गई। अतएव मन्त्रिमण्डल से नौ मन्त्रियों की एक 'परिषद' की रचना की गई। राजा के नियन्त्रण एवं परामर्श के लिए सभा का होना आवश्यक एवं अनिवार्य था। सभा में खूब बहसें होतीं और निर्णय बहुमत से होता था। सभा के नियमों के उल्लंघन के लिए सभापति दण्ड देता था। सभा न्याय भी करती थी।

सभा के सिवा 'समिति' का भी उल्लेख है, जो राजा को निर्वाचित और उसे स्थिरता एवं विजय प्रदान करती थी। उसके संगठन के विषय में स्पष्ट पता नहीं चलता। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वह सभा से बड़ी संस्था थी।

शासन-विधान का भी विकास हुआ। पूर्ववत् 'ग्राम' का मुख्य पदाधिकारी 'ग्रामणी' था। उसके ऊपर उत्तरोत्तर क्रम से 'दशग्रामी', 'विंशतिप', 'शतग्रामी' और उनके ऊपर 'अधिपति' था, जो एक सहस्र ग्रामों का शासक था। अपने-अपने क्षेत्र में राज-कर वसूल करना और न्याय करना इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। शासन के १८ विभागों एवं उनके अध्यक्षों का उल्लेख मिलता है। ऐसे भी राज्यों का उल्लेख है जिनमें राजा नहीं होता था। ऐसे राज्य 'गणराज्य' कहलाते थे। उनका शासन सभा, समितियों, प्रधानों और मुखियों द्वारा होता था। कभी-कभी ऐसे कई राज्य मिलकर रक्षार्थ 'संघ' बना लेते थे। 'गणराज्य' अथवा 'संघ' में सबसे बड़ा दोष यह था कि उनमें दलबन्दी हो जाती और व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष के बढ़ने से फूट पड़ जाती थी। शायद इसी कारण से वे पनपने न पाये और एक राजानुशासित राज्यों के आघात से चूर्ण होकर अन्त में नष्ट हो गए।

विभिन्न देशों की पौराणिक गाथाओं में आकाश में मनुष्य के उड़ान की कल्पनाएँ

हमारे देश के प्राचीन कथा-साहित्य में प्रायः आकाश में विचरण करनेवाले विमानों का उल्लेख आता है। रामायण में वर्णित पुष्पक विमान का नाम कौन नहीं जानता ? कहते हैं, इसी में बैठकर श्री रामचन्द्रजी लंका से अयोध्या तक आकाशमार्ग से आये थे (चित्र में नं० १)। चीन के प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख है कि लगभग २२०० ई० पू० सम्राट् शुन ने एक आकाशगामी रथ बनवाया था। कहते हैं, शुन अपने क्रुद्ध पिता द्वारा एक बुर्ज में क़ैद कर दिया गया और उस बुर्ज में आग लगा दी गई। शुन सरकंडे के दो छतरी-नुमा टोप हाथों में लेकर उस ऊँची बुर्ज से नीचे कूद पड़ा और सही-सलामत धरती पर उतर आया (दे० चित्र में नं० २)। बेबिलान की कथा है कि बाबुल की मीनार के रचयिता कैकाउस ने एक लकड़ी का उड़नखटोला बनाया था, जिसे चील उड़ाती थीं। कहते हैं, चीलों के आगे गोश्त के टुकड़े इस तरह बाँध दिये गये थे कि वे उन्हें पा नहीं सकती थीं, पर उन्हें पाने के प्रयत्न में वे उड़ने लगती थीं, जिससे खटोला भी ऊपर उठ जाता था (चित्र में नं० ३)। प्राचीन ग्रीस की कथा है कि क्रीट के सम्राट् मीनास द्वारा एक भूल-भुलैया में क़ैद कर दिये जाने पर, डाडेलस नामक एक व्यक्ति अपने पुत्र आइकेरस के साथ शरीर में मोम से चिपकाये हुए पर लगाकर भूल-भुलैया की छत से उड़कर नीचे उतर आया था। कहते हैं, सूर्य की गर्मी से आइकेरस के परों का मोम पिघल गया और पर बिखर पड़े, जिससे वह समुद्र में गिर पड़ा। (चित्र में नं० ४ में डिडेरस आइकेरस को उड़ने के लिए तैयार कर रहा है।) बेबीलान के शिलालेखों में यह कथा अंकित है कि इटाना नामक एक गड़रिया एक बार एक चील पर सवार होकर उड़ा था (दे० चित्र में नं० ५)।

वायु पर विजय--(१)

गुब्बारे से वायुपोत तक कैसे पहुँचे ?

मनुष्य के अनेक अद्भुत आविष्कारों में आकाश में विचरण करने की कला का आविष्कार एक ख़ास महत्त्व रखता है। इस अद्भुत खोज ने आज दिन मनुष्य के जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी है। आकाश-मार्ग के उद्घाटन ने मानो हमारे जल और स्थल के बंधनों और सीमाओं को तोड़ दिया है। अभी तो इसकी शुरुआत ही है, आगे इस दिशा में न जाने कितनी उन्नति की संभावना है। इस और अगले अंक के लेख में हम मनुष्य की इसी महत्त्वपूर्ण खोज का हाल सुनावेंगे।

पक्षियों को आकाश में स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करते देख मनुष्य ने आज से लाखों वर्ष पहले ही इस सम्बन्ध में अपनी लाचारी और बेबसी को महसूस किया होगा। इधर-उधर घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता के लिहाज़ से मनुष्य तो पक्षियों के सामने पासंग में भी नहीं टिक सकता। आदमी एक अन्धी मछली की भाँति हवा के इस अथाह सागर के तल पर रेंगता फिरता है। चन्द फ़ीट ऊँची दीवाल सामने आई तो बस वहीं रुकना पड़ा, या सामने कोई चौड़ी खाई आई तो उसे पार करने में भी असमर्थ! इसके प्रतिकूल पक्षियों को हर दिशा में स्वतंत्रता प्राप्त है। ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, किसी भी ओर पलक मारते - मारते पक्षी उड़कर जा सकते हैं। जिन पहाड़ों और खाइयों को पार करने में मनुष्य को घंटों लग जाते हैं, उन्हें पक्षी चन्द सैकण्ड में पार कर लेते हैं। इसी कारण अतीतकाल से ही मनुष्य के मन में पक्षियों की भाँति आकाश में विचरने की एक तीव्र लालसा हुई होगी।

इस तीव्र लालसा की छाप हर देश के प्राचीन साहित्य पर पड़ी है। पौराणिक कथाओं तथा आख्यायिकाओं के रूप में कवियों और लेखकों ने अपनी इस हविस को खुलकर खेलने का मौक़ा दिया। जिस किसी व्यक्ति के अन्दर असाधारण शौर्य या प्रतिभा दिखाना हुआ, उसे विमानों की सवारी प्रदान की! पुष्पक विमान का उल्लेख रामायण में आया है। अन्य देशों में भी
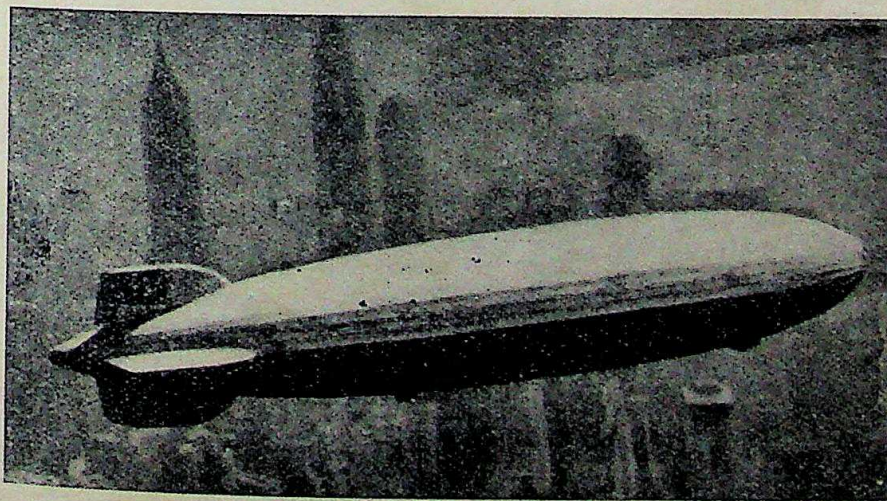
आकाश और वायु पर मनुष्य की विजय का महान् प्रतीक

यह न्यूयार्क शहर पर मँडराते हुए महान् जर्मन वायुपोत 'हिंडनबर्ग' का चित्र है, जो दुर्भाग्यवश बाद में जलकर खाक हो गया था। यह अब तक बनाया गया सबसे बड़ा वायुपोत था।
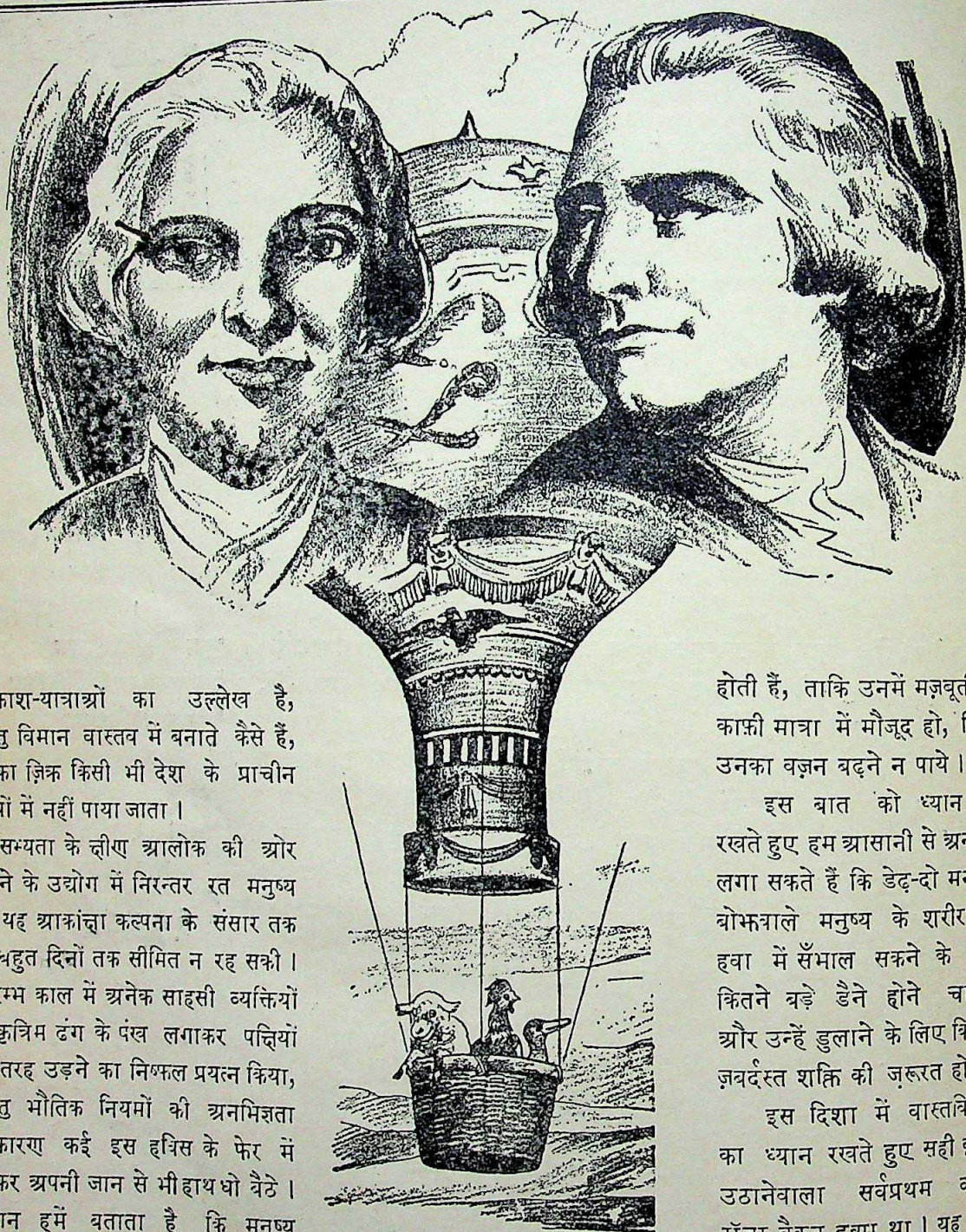
आकाश-यात्राओं का उल्लेख है, किन्तु विमान वास्तव में बनाते कैसे हैं, इसका ज़िक्र किसी भी देश के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता।

सभ्यता के क्षीण आलोक की ओर बढ़ने के उद्योग में निरन्तर रत मनुष्य की यह आकांक्षा कल्पना के संसार तक ही बहुत दिनों तक सीमित न रह सकी। प्रारम्भ काल में अनेक साहसी व्यक्तियों ने कृत्रिम ढंग के पंख लगाकर पक्षियों की तरह उड़ने का निष्फल प्रयत्न किया, किन्तु भौतिक नियमों की अनभिज्ञता के कारण कई इस हविस के फेर में आकर अपनी जान से भी हाथ धो बैठे। विज्ञान हमें बताता है कि मनुष्य पंख डुलाकर केवल अपनी शक्ति से पक्षियों की तरह हवा में क्यों नहीं उड़ सकता। किसी भी पक्षी के शरीर को लीजिए, उसके डैने क्षेत्रफल में शरीर के बोझ के मुक़ाबले में कितने बड़े होते हैं। फिर उसके शरीर की हड्डियाँ भी निहायत हल्की और खोखली होती हैं, ताकि उनमें मज़बूती तो काफ़ी मात्रा में मौजूद हो, किन्तु उनका वज़न बढ़ने न पाये।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम आसानी से अन्दाज़ लगा सकते हैं कि डेढ़-दो मन के बोझवाले मनुष्य के शरीर को हवा में सँभाल सकने के लिए कितने बड़े डैने होने चाहिएँ और उन्हें डुलाने के लिए कितनी ज़बर्दस्त शक्ति की ज़रूरत होगी।

इस दिशा में वास्तविकता का ध्यान रखते हुए सही क़दम उठानेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति रॉजर बैकन हुआ था। यह बात १३वीं शताब्दी की है। उसने ग़ौर किया कि गरम करने से चीज़ें प्रायः हलकी हो जाती हैं। तप्त वायु भी ठण्डी वायु की अपेक्षा हल्की होगी। अब यदि एक बृहत्काय खोखले बर्तन में गर्म हवा भर दी जाय, तो बाहर

मोन्टगोलफ़ियर बन्धु और उनका गुब्बारा जो एक मुर्गा, एक भेड़ और एक बतख़ को लेकर आठ मिनट तक आकाश में उड़ा था। सर्वप्रथम आकाश में गुब्बारों द्वारा उड़ने के मार्ग का उद्घाटन करने का श्रेय मोन्टगोलफ़ियर बन्धुओं को ही प्राप्त है। इन्हीं की सूझ के बल पर आगे बड़े-बड़े वायुपोत बनाना संभव हो सका।

की हवा में यह बर्त्तन उसी प्रकार तैरेगा जैसे पानी पर किश्ती तैरती है। धातु का बना हुआ तप्त वायु से भरा हुआ गोला यदि किसी ऊँचे स्थान से हवा में लुढ़का दिया जाय तो वह अवश्य हवा में इधर-उधर तैरता रहेगा। रॉजर बैकन पूर्ण विश्वास के साथ लिखता है कि इस बर्तन के अन्दर कोई ऐसी मशीन रखी जा सकती है, जो बर्तन के बाहर लगे हुए पंख को तेज़ी के साथ डुला सके। ऐसा करने से चिड़ियों की तरह मनमानी दिशा में तेज़ रफ़्तार के साथ हम उड़ सकेंगे। किन्तु रॉजर बेकन ने भी वास्तव में कभी अपनी इस योजना को कार्यान्वित नहीं किया।

पंख लगाकर उड़ने का ख़ब्त अभी तक यहाँ-वहाँ लोगों के अन्दर मौजूद था। इसलिए इन्हीं दिनों इंगलैण्ड का एक पादरी अपने शरीर में चिड़ियों के पंख बाँधकर एक ऊँचे मीनार से इस आशा में कूदा कि नीचे गिरते समय ये पंख उसका बोझ सँभाल लेंगे और वह चील की तरह मँडराता हुआ धीरे-धीरे ज़मीन पर सकुशल उतर आयेगा। किन्तु उसके कृत्रिम पंखों ने उसकी तनिक भी मदद न की और बेचारा इतने ज़ोर से गिरा कि हाथ-पैर टूट गये।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सफलता प्राप्त करने का श्रेय मोन्टगोल्फियर बन्धुओं को प्राप्त है। नवम्बर १७८१ ई० में चिमनी से धुएँ को ऊपर उठते देखकर उन्होंने विचार किया कि इस धुएँ के बल से हल्की चीज़ें ऊपर को उठ सकती हैं। पतले काग़ज़ का थैला बनाकर ऊपर उठाए हुए उन्होंने उसे आग के ऊपर रक्खा तो गर्म हवा उस थैले में भर गई और तुरन्त वह थैला ऊपर को उठ चला। इस प्रयोग की सफलता देखकर दोनों भाइयों की प्रसन्नता की सीमा न रही। एक तरह से मोन्टगोल्फियर भाइयों को हम गुब्बारे का जन्मदाता कह सकते हैं।

इनके इस अद्भुत आविष्कार की ख़बर जनता में बिजली की तरह फैल गई। फलस्वरूप ५ जून, १७८३, को
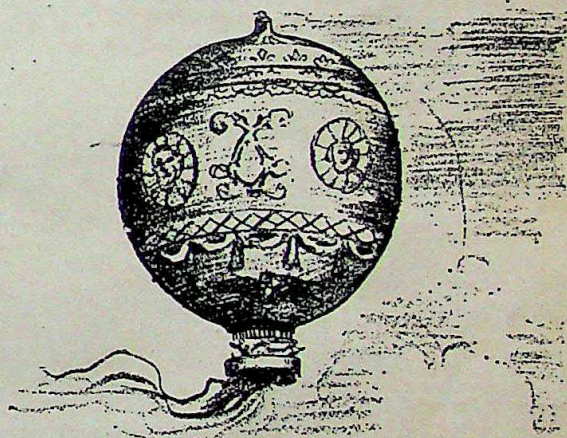
संसार का सर्वप्रथम उड़ाका डी रोज़ियर और उसका बैलून

(ऊपर बाईं ओर) डी रोजियर, जो अक्टोबर १५, १७८३, को एक बैलून में बैठकर सबसे पहले आकाश में उड़ा था। महीने भर बाद वह फिर एक साथी के साथ [illegible] दाहिनी ओर के चित्र में दिखाया गया है।

जनता के सामने गुब्बारे के एक बहुत बड़े प्रदर्शन का आयोजन किया गया। राज्यपरिषद् के सदस्य तथा आम जनता की भीड़ ने कुतूहल-भरे नेत्रों से इस करिश्मे को देखा। ११० फ़ीट की परिधि के गुब्बारे की काग़ज़ की खोल सामने मैदान में पड़ी हुई थी। गुब्बारे के पेंदे में सूराख़ था। इसी सूराख़ के रास्ते धीरे-धीरे भूसे की आग की गर्म हवा इस गुब्बारे में प्रवेश करने लगी। थोड़ी देर में यह सुडौल गुब्बारा ऊपर उठकर १॥ मील की ऊँचाई पर पहुँच गया और ठंढा होकर फिर नीचे उतर आया। कुल दस मिनट का समय लगा। इस गुब्बारे की खोल पर वार्निश पुती हुई थी ताकि हवा की साँस बाहर निकल न सके।

कुछ ही दिन पहले हाइड्रोजन गैस के गुणों की जाँच कैवेन्डिश ने की थी। हाइड्रोजन साधारण हवा से पंद्रहवाँ हिस्सा हलकी होती है। अतः गरम हवा के स्थान पर हाइड्रोजन को गुब्बारे में भरने की बात सोची गई। फलस्वरूप पेरिस में सर्वप्रथम हाइड्रोजनवाला गुब्बारा तैयार किया गया। १४ मन लोहे का चूर और ८ मन गन्धक के तेजाब से इस गुब्बारे में भरने के लिए हाइड्रोजन गैस तैयार की गई। इस गुब्बारे का व्यास १३ फ़ीट था और वज़न केवल १० सेर। इसकी खोल रेशम की बनी थी, जिस पर गोंद की पतली वार्निश चढ़ाई हुई थी। यह गुब्बारा ३०० फ़ीट ऊँचा उठा और मूसलाधार वारिश में भी ४५ मिनट तक आकाश में उड़ता रहा।

इसके कुछ ही दिनों बाद मोन्टगोल्फियर ने एक दूसरा गरम वायु का गुब्बारा बनाया और इस गुब्बारे से एक टोकरी लटका दी जिसमें एक मुर्ग़ा, एक भेड़ और एक बत्तख़ बैठी हुई थी। आठ मिनट के बाद जब गुब्बारा धरती पर उतरा तो ये तीनों सही-सलामत दिखाई दिये। इस प्रयोग को देखकर लोगों को स्वयं गुब्बारे में
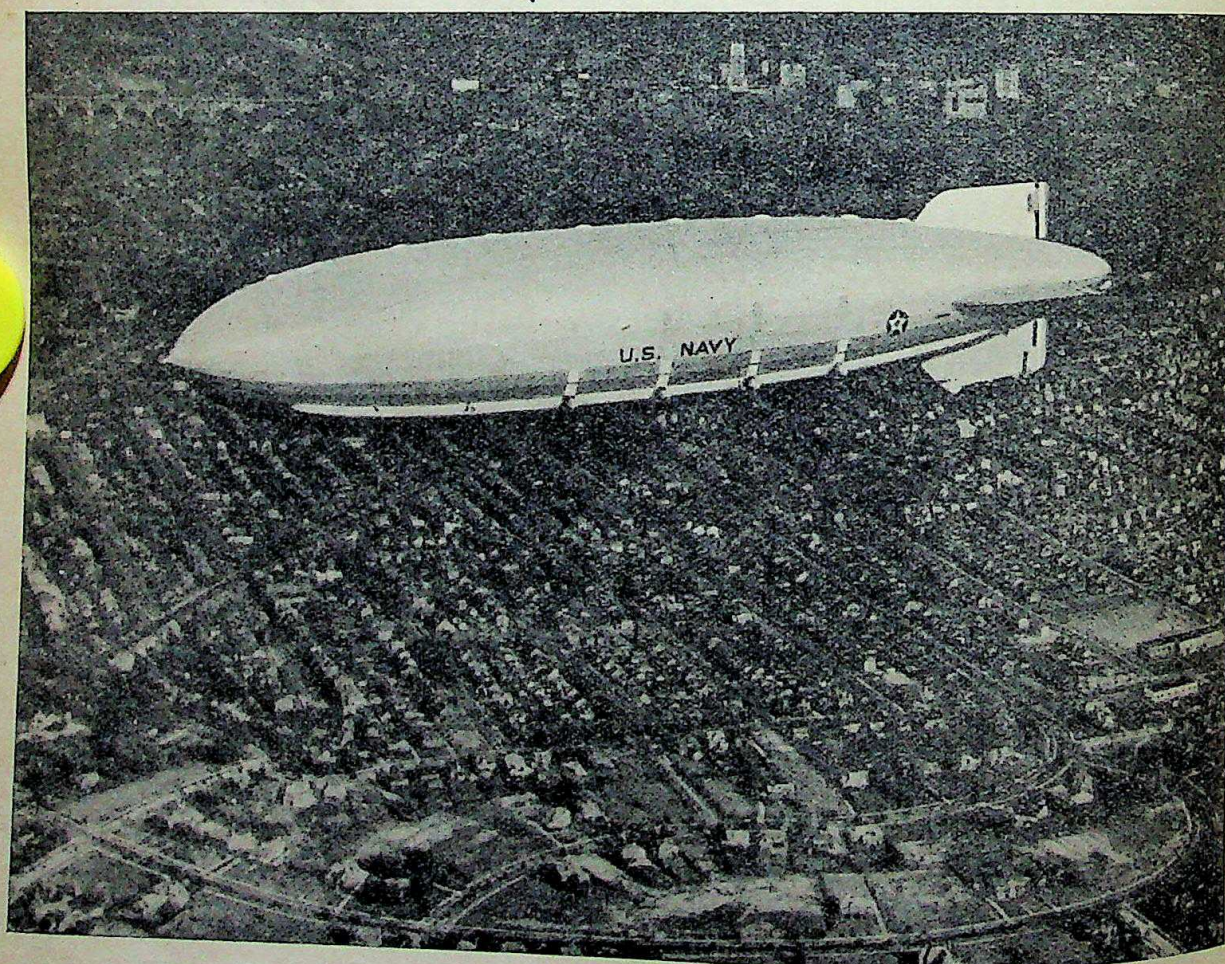
अमेरिका का सबसे बड़ा वायुपोत 'एक्रॉन' पहले-पहल आकाश में उड़ रहा है

जलने से बचने के लिए इसमें हीलियम गैस भरी गई, फिर भी दुर्भाग्यवश १९३५ में आँधी और तूफान के झोंके में आकर यह नष्ट हो गया।

सवार होकर ऊपर जाने की हिम्मत हुई। अक्टूबर १७८३ में फ्रान्स का एक नवयुवक रोज़ियर एक गरम वायु के बैलून की टोकरी में अकेले बैठकर ऊपर गया। हवा में उड़नेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति यही था।

अब हाइड्रोजनवाले गुब्बारे भी इस दिशा में पीछे न रहे। अमेरिका के फ़िलाडेल्फ़िया प्रान्त में उसी महीने में एक व्यक्ति हाइड्रोजनवाले गुब्बारे में चढ़कर आकाश में उड़ा।

फिर तो भिन्न-भिन्न देशों में जैसे गुब्बारों की बाढ़ आ गई। दिसम्बर १७८४ में राबर्ट और चार्ल्स दो व्यक्ति हाइड्रोजनवाले बैलून में बैठकर १० हज़ार फ़ीट ऊँचे तक उड़े। इसी साल मैडम थिब्रुल नामक फ्रेंच महिला स्त्रियों में हाइड्रोजनवाले बैलून में चढ़ीं। आकाश में भ्रमण करने वाली यह सर्वप्रथम महिला थी।

बैलून उड़ाने की कला से अब लोग भली भाँति परिचित हो चुके थे—किन्तु अभी तक बैलून का प्रयोग केवल मनोरंजन तक ही सीमित था। वैज्ञानिक अन्वेषण के सिलसिले में आकाश की वायु का तापक्रम, दबाव, आदि का नाप-जोख करने के लिए बैलून का सर्वप्रथम प्रयोग १८०५ में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गेलुज़ाक ने किया था।

इसके बाद क़रीब ५० वर्ष तक इस दिशा में कुछ विशेष काम नहीं हुआ। हाँ, इंगलैण्ड में १८६२-६६ के बीच ग्लेशर ने बैलून में सवार होकर ऊर्ध्वाकाश की कई बार सैर की और वायुमण्डल के ऊपरी वायुस्तर के बारे में नई-नई बातें ढूँढ़ निकालीं। बादलों की ऊँचाई, उनका घनत्व, भिन्न-भिन्न वायुधाराओं की दिशा तथा उनका वेग, हवा में विद्युत् की मात्रा, हवा का दबाव और उसका तापक्रम, इन सभी बातों पर पर्याप्त प्रकाश उसने डाला। ग्लेशर के लिए निस्संदेह यह महत्वपूर्ण बात है कि ऊर्ध्वाकाश सम्बन्धी अनुसन्धानों के इस शुरू ज़माने में भी अपने को ख़तरे में डालकर वह ऊर्ध्वाकाश में ६॥ मील की ऊँचाई तक पहुँचा था। तदुपरान्त ऊर्ध्वाकाश में समय-समय पर वैज्ञानिक अनुसन्धान के निमित्त अभियान होते रहे। १९०१ में बर्लिन से दो साहसी अभियानकारी बैलून में बैठकर आकाश में ७ मील की ऊँचाई तक पहुँचे थे। इस क्षेत्र में प्रो० पिकार्ड ने विशेष ख्याति पाई है। सन् १९३३ में वह अनुसन्धान के लिये ९¾ मील की ऊँचाई तक उड़े थे। फिर नवम्बर १९३५ में विशेष तैयारी के साथ दो अमेरिकन स्टीवेन्स और एन्डर्सन ऊर्ध्वाकाश के अभियान के लिए दुनिया के सबसे बड़े बैलून में उड़े थे। ये लोग १४ मील से भी कुछ फ़ीट ऊपर पहुँच गये थे!
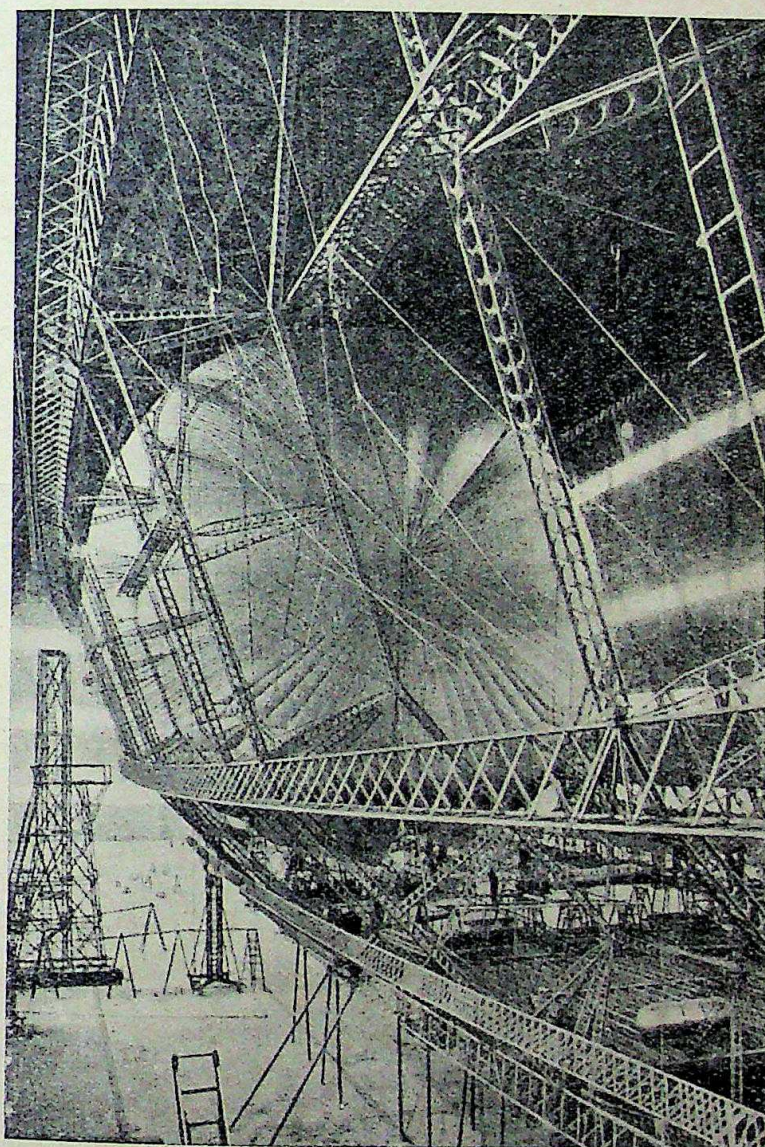
अँगरेज़ों के सबसे बड़े वायुपोत 'आर–१०१' का विशाल कंकाल

यह वायुपोत भी दुर्घटनावश जलकर नष्ट हो गया था।

हाइड्रोजनवाले बैलून के आविष्कार के बाद ही उड़ाकों ने बैलून द्वारा लम्बी यात्रायें पूरी करने की योजनाएँ बनाईं। तदनुसार इँगलिश चैनेल पार करने का प्रयत्न कई साहसी व्यक्तियों ने किया। इसी उद्योग में बेचारे रोज़ियर की जान गई। किन्तु १७८५ में ब्लैकर्ड और जेफ़्री ने एक अपने निज के डिज़ाइन के बैलून में बैठकर इँगलिश चैनेल को पहली बार पार किया। फिर तो बैलून द्वारा लम्बी यात्राएँ पूरी करने की धुन लोगों में इतनी फैली कि १८९७ में स्विट्ज़बर्ग से आन्द्रे ने अपने दो साथियों को लेकर बैलून में उत्तरी ध्रुव के लिए अभियान किया। पर यह सारी टोली वहीं मौत की भेंट हो गई। पूरे ३० वर्ष बाद बर्फ़ के ढेर के अन्दर से उनकी लाशें मिलीं! साधारण बैलून द्वारा पूरी की गई सबसे लम्बी यात्रा का रेकार्ड १०३२ मील के फ़ासले का है; जबकि सितम्बर १९३५ में वॉरसा से स्टैलिनग्रेड तक ५७ घंटे ५४ मिनट में यह यात्रा पूर्ण की गई थी।

किन्तु बैलूनवाली इन सभी यात्राओं में बैलून को निरन्तर हवा की मर्ज़ी पर निर्भर रहना होता था। हवा के झोंके जिधर चाहे उसी ओर उसे ले जाएँ। तत्कालीन सभी वैज्ञानिक इस उधेड़बुन में थे कि कौन-सी ऐसी तरकीब निकले जिसमें गुब्बारे को इच्छित दिशा में ले जाना सम्भव हो। इस उद्योग में कई एक विचित्र मशीनें बनीं। धीरे-धीरे लोगों ने इस बात को महसूस किया कि हवा की अवरोधक शक्ति कम करने के लिए यह आवश्यक है कि बैलून गेंद की तरह गोल न हो बल्कि सिगार की तरह गावदुम शक्ल का हो। क्योंकि इस शक्ल के बैलून की सतह पर से हवा आसानी से फ़िसल सकेगी। अतः एक फ़्रेञ्च जनरल ने १७८४ में एक सिगार की शक्ल का बैलून बनाया और उसमें हाथ से चलानेवाले पतवार लगाये ताकि उनकी मदद से बैलून का नियमन कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये पतवार कार्यकर साबित न हो सके।
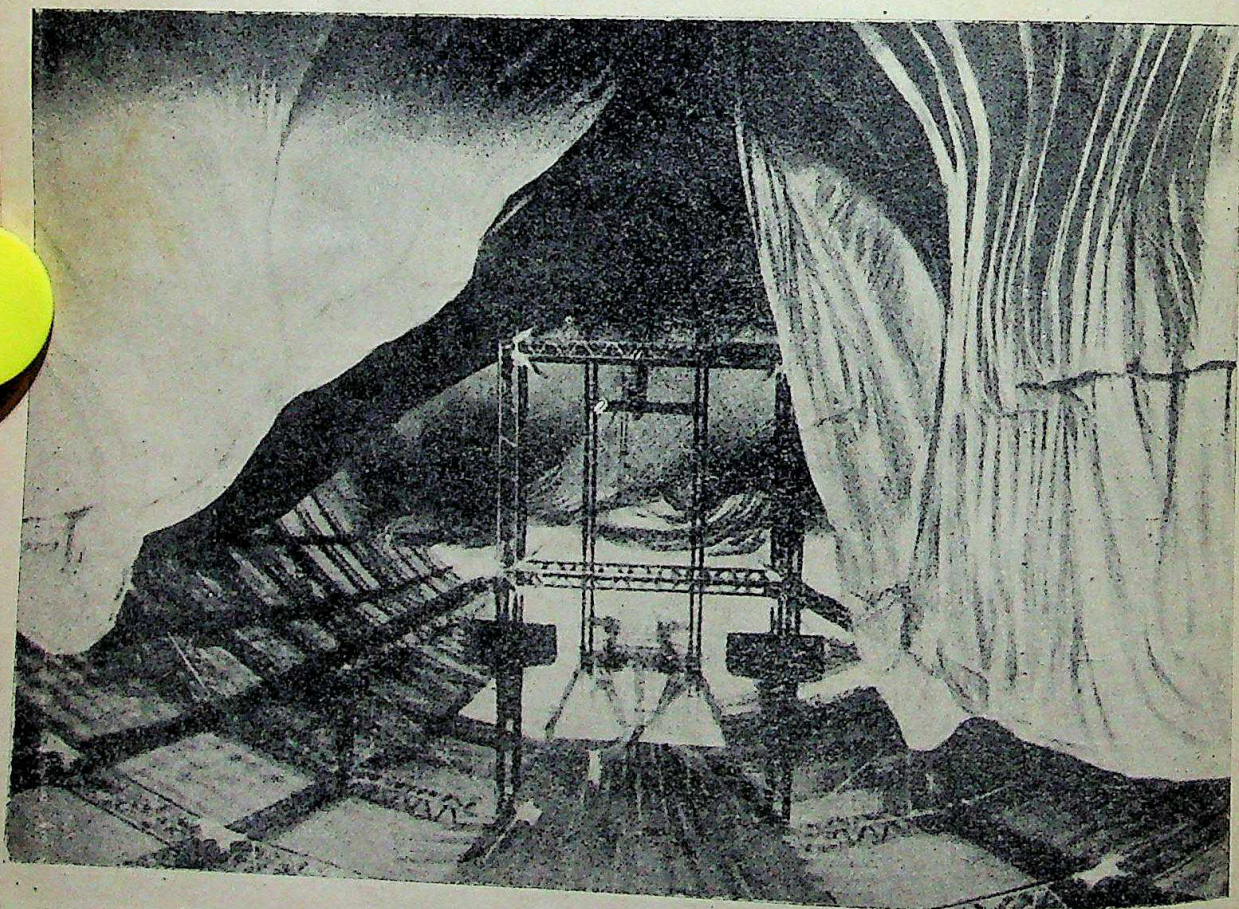
संसार के सबसे बड़े वायुपोत हिंडनबर्ग के ढाँचे का भीतरी दृश्य

इस विशाल ढाँचे के भीतर गैस भरने के १६ बड़े-बड़े थैले थे, जिनमें ७० लाख घन फ़ीट हाइड्रोजन भरी जाती थी। चित्र में थैले खाली दिखाई दे रहे हैं।

वास्तविक रूप में पहला नियम्य (dirigible) बैलून गिफ़ार्ड ने १८५२ में तैयार किया। सिगार के आकार का यह बैलून ११४ फ़ीट लम्बा और ३९ फ़ीट चौड़ा था। इसके संचालन के लिए एक हलके वाष्प-इंजिन का प्रयोग किया गया था। स्थिर हवा में ४ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से यह बैलून उड़ा था। फिर भी वाष्प-इंजिन का बोझ इतना अधिक था कि ऐसे बैलून कुछ अधिक कार्यकर साबित न हो सके, क्योंकि ये तेज़ रफ़्तार पकड़ ही नहीं पाते थे।

हाँ, पेट्रोल-इंजिन की ईजाद ने इस क्षेत्र में लोगों को अवश्य उत्साहित किया। १८९७ में डाक्टर उल्फर्ड ने अपने बैलून में पेट्रोल-इंजिन लगाया, किन्तु बीच आकाश में इंजिन के फट जाने से समूचे बैलून में आग लग गई और उल्फर्ड भी उसी आग में भुनकर ख़त्म हो गया। दूसरे साल सैन्टो ड्यूमा ने मोटर लगे हुए वायुयान तैयार किये। इस उत्साही युवक ने एक-एक करके १४ वायुपोत तैयार किये। अपने नियम्य बैलून में बैठकर १९ अक्टूबर, १९०१, को १९ मील की रफ़्तार से उसने पेरिस की एफिल टावर के कई चक्कर लगाये। ड्यूमा का वायुपोत बिना ढाँचेवाला था—वह सिगार की शक्ल का एक बड़ा-सा थैला था, जिसके अन्दर हाइड्रोजन कसकर भरी रहती थी। हाइड्रोजन के ही दबाव के कारण इसकी गावदुम शक्ल क़ायम रहती थी। हाइड्रोजन निकल जाने पर वह एकदम पिचक जाता था।

'मूरिङ्ग मास्ट' या वायुपोत को बाँध रखनेवाला लौह स्तम्भ

इसे हम वायुपोत रूपी आकाशीय जहाज़ों का 'घाट' कह सकते हैं, क्योंकि इसी पर आकर ये जहाज़ टिकते और यात्री लोग इसी के द्वारा इन जहाज़ों पर चढ़ते-उतरते हैं। इस मूरिंग मास्ट से 'आर-१०१' बँधा दिखाया गया है।

आधुनिक बिना ढाँचेवाले वायुपोत साइज़ में अपेक्षाकृत छोटे हुआ करते हैं। थोड़ी दूर तक आने-जाने के लिए ये बड़े ही उपयुक्त साबित होते हैं। पिछले योरपीय महायुद्ध में ऐसे वायुपोतों को प्रायः पनडुब्बियों का पता लगाने के लिए काम में लाया जाता था।

बिना ढाँचेवाले वायुपोत में हाइड्रोजन गैस के थैले की खोल से रेशम की मज़बूत डोरियों के सहारे एक गाड़ी लटकती रहती है। इसी गाड़ी में इंजिन लगा रहता है तथा पेट्रोल रखने और आठ-दस यात्रियों के बैठने के लिए जगह बनी रहती है। गैस के थैले में छोटे-छोटे कई ख़ाने एक दूसरे से अलग भी बने रहते हैं, जिनमें हाइड्रोजन के बजाय हवा कसी रहती है। ज्यों-ज्यों पेट्रोल ख़त्म होता जाता है, कार का बोझ भी हलका पड़ता जाता है, फलस्वरूप समूचे वायुपोत का घनत्व भी कम हो जाता है और वह आकाश में और ऊँचा उठना चाहता है। उसे एक नियत ऊँचाई पर ही रखने के लिए थैले के अन्दर से थोड़ी हाइड्रोजन बाहर निकल जाने देते हैं और इन ख़ाली ख़ानों में साधारण हवा भर देते हैं ताकि वायुपोत का घनत्व पहले जैसा हो जाय, साथ ही उसकी शक्ल भी पूर्ववत् बनी रहे।

इस तरह के वायुपोत लगभग २५० फ़ीट की लम्बाई तक बनाये जाते हैं। इस ढंग के वायुपोत अगर बड़े साइज़ के तैयार किये जायँ तो उनमें यह ख़राबी आ जाती है कि तेज़ हवा के झोंके के सामने पड़ते ही इनका गैसवाला थैला दुहर जाता है और कभी-कभी तो ये फट भी जाते हैं। इसी कारण बड़े साइज़ के वायुपोतों के लिए पहले से मज़बूत ढाँचा तैयार कर लिया जाता है ताकि उनके दुहरने या फटने का डर न रहे। कभी-कभी पूरा ढाँचा न तैयार करके केवल अर्द्ध-ढाँचे का ही प्रयोग करते हैं।

अर्द्ध-ढाँचेवाला वायुपोत बहुत-कुछ बिना ढाँचे के वायुपोत के ढंग पर बनता है। इसे मज़बूती देने के लिए इसके सिगारनुमा थैले के पेंदे में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक एक मज़बूत गार्डर लगा देते हैं, जैसा समुद्र के जहाज़ों में अक्सर लगा हुआ होता है। फिर इसी गार्डर से इंजिन-कार वग़ैरह लटकाते हैं। किन्तु इस तरह के अर्द्ध-ढाँचेवाले वायुपोतों की संख्या बहुत कम है।

बहुत दूर का फ़ासला तय करने के लिए ऐसे वायुपोतों की ज़रूरत थी जो काफ़ी मज़बूत हों, ताकि हज़ारों मील की यात्रा की कठिनाइयों को आसानी से वे सह सकें। इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए ढाँचेवाले वायुपोतों का आविष्कार हुआ। इस श्रेणी के वायुपोत स्वर्गीय जर्मन काउण्ट ज़ैप्लिन के मस्तिष्क की ख़ास उपज हैं। काउण्ट ज़ैप्लिन ने ही बिना ढाँचेवाले वायुपोतों के दुहर जाने की ख़राबी को दूर करने के लिए तरकीब ढूँढ़ी। उसने अल्यूमिनियम की मज़बूत तीलियों की मदद से एक विशालकाय ढाँचा तैयार किया ताकि उसी के अन्दर हाइड्रोजन भरा हुआ थैला रखा जा सके। ढाँचे के अन्दर १५ अलग-अलग ख़ाने थे और हर ख़ाने में गैस के ढोलनुमा थैले रक्खे गये थे। गैस को अलग-अलग थैलों में रखने से यह लाभ रहता है कि यदि किसी एकाध थैले में छिद्र हो जाय तो अन्य थैलों में से गैस बाहर न निकल सके। थैलों के बीच कुछ थोड़ी-सी जगह ख़ाली भी रख छोड़ी गई थी ताकि बाहरी हवा के दबाव के घटने-बढ़ने से गैस में होनेवाले संकुचन या प्रसार के लिए काफ़ी गुंजायश बनी रहे। पूरे ढाँचे पर लिनन की एक पतली किन्तु मज़बूत चद्दर चढ़ाई गई थी, ताकि हवा के झोंकों का झटका सीधे गैस के थैलों पर न लगे। ढाँचे से लटकती हुई दो गाड़ियाँ भी इस वायुपोत में थीं। प्रत्येक गाड़ी में १६ अश्वबल का पेट्रोल इंजिन लगा हुआ था। इस विशालकाय ढाँचे की पूँछ पर पतवार लगा हुआ था, जिसका सम्बन्ध इंजिन से था। इस तरह का ढाँचायुक्त सर्वप्रथम वायुपोत जून १९०० में १८ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से उड़ा। ढाँचे-युक्त वायुपोतों की शक्ल उसमें भरी हुई गैस के दबाव पर बिल्कुल ही निर्भर नहीं रहती। अपने आविष्कारक के नाम पर ऐसे नियम्य वायुपोतों का नाम ही ज़ैप्लिन पड़ गया। जर्मन महायुद्ध में शुरू-शुरू में जर्मन ज़ैप्लिन वायुपोतों ने लन्दन में बमवर्षा करके जनता में भीषण आतंक उत्पन्न कर दिया था। फिर तो कुछ ही दिनों उपरान्त जर्मनी के अतिरिक्त इँगलैण्ड और अमेरिका में भी ज़ैप्लिन के निर्माण का काम ज़ोरों से शुरू हो गया। लोगों ने उसके डिज़ाइन में तरह-तरह के सुधार भी किये। यहाँ तक कि आधुनिक ज़ैप्लिन वायुपोतों में १६ हज़ार से ज़्यादा भिन्न-भिन्न पूर्ज़े अब फ़िट किये जाते हैं। ढाँचे के गार्डर और शहतीरों की कुल लम्बाई क़रीब ७० मील तक पहुँचती है और उनको बाँधनेवाले तार की कुल लम्बाई ५३ मील से भी ऊपर उतरती है। गाड़ियाँ इस ढाँचे से चन्द फ़ीट नीचे को लटकती हैं। प्रायः चार गाड़ियाँ आजकल के ज़ैप्लिनों में लगी हुई होती हैं।

सबसे आगे वाली गाड़ी का आकार काफ़ी बड़ा होता है और इसमें वायरलेस यंत्र, कन्ट्रोल केबिन और एक इंजिन रहता है। कन्ट्रोल केबिन में दिशासूचक तथा ऊँचाई नापने के यंत्र लगे रहते हैं। कप्तान यहीं से ज़ैप्लिन का संचालन करता है। टेलीफ़ोन द्वारा एक गाड़ी के व्यक्ति दूसरी गाड़ी के व्यक्तियों से बात कर सकते हैं। शेष तीन गाड़ियों में भी इंजिन लगे होते हैं। इन इंजिनों की कुल शक्ति १२०० से लेकर ४००० अश्वबल तक पहुँचती है। मुख्य ढाँचे के दोनों सिरों पर पतवार और ऊँचाई नियामक यंत्र लगे रहते हैं। इन्हीं की मदद से कप्तान वायुपोत को इच्छित ऊँचाई पर और जिस दिशा में चाहे उधर ले जा सकता है।

पेट्रोल और पानी की टङ्कियाँ ढाँचे के अन्दर पेंदे में रक्खी होती हैं, ताकि इनका बोझ वायुपोत का समतुलन क़ायम रख सके। ढाँचे के अन्दर ही एक सँकरी गली-सी बनी रहती है। इसी गली से होकर आप एक गाड़ी में से दूसरी गाड़ी में जा सकते हैं। लम्बी यात्रा में यात्री लोग इसी गली में टहलकर व्यायाम भी कर सकते हैं। यात्रियों के सोने का इन्तज़ाम भी इसी ढाँचे के अन्दर होता है। रात के समय जब नींद मालूम होने लगी, तो अपनी गाड़ी से चढ़कर ऊपर ढाँचे के अन्दर चले गये और लटकते हुए पालने में आराम के साथ लेट गये। बिना ढाँचेवाले वायुपोतों में इन सब आराम के साधनों के लिए कहाँ गुंजाइश हो सकती थी?

महायुद्ध के बाद सवारी ढोने और सेना-सम्बन्धी काम, दोनों के लिए इंगलैंड, अमेरिका आदि में ज़ैप्लिनों का निर्माण तेज़ी के साथ होने लगा। आकाशपथ से हज़ारों मील की लम्बी यात्रा रास्ते में बिना कहीं रुके हुए पूरी करने के लिए ज़ैप्लिन सबसे ज़्यादा उपयुक्त साबित हुए। ब्रिटिश वायुपोत 'आर-३४' को सबसे पहले अटलाण्टिक महासागर पार करने का श्रेय प्राप्त हुआ। और १९३४ में तो जर्मन वायुपोत ग्रेफ़ ज़ैप्लिन ने सारी दुनिया की प्रदक्षिणा लगा ली। ब्रिटिश वायुपोत 'आर-१०१' ने भी लम्बी उड़ान में बड़ा नाम कमाया था। किन्तु १९३० में फ़्रान्स की एक पहाड़ी से टकराकर यह जल उठा और ४८ प्राणी इस दुर्घटना में नष्ट हुए।

निस्सन्देह ज़ैप्लिन-निर्माण में जर्मनी का स्थान अब तक सर्वोपरि रहा है। जर्मनी का सबसे पिछला वायुपोत

'हिन्डनबर्ग' था। इसमें ७० लाख घन फ़ीट हाइड्रोजन भरी हुई थी। अब तक तैयार हुए तमाम वायुयान इसके आकार के सामने बौने-से जँचते थे। ८१३ फ़ीट लम्बा और १३५ फ़ीट चौड़ा इसका ढाँचा था। इसके ढाँचे की खोल के ऊपर अल्यूमिनियम पाउडर की सफ़ेद पालिश की हुई थी, ताकि सूर्य की तप्त किरणें वायुपोत को विशेष गर्म न कर सकें। इसके इंजिनों की कुल शक्ति ४००० अश्वबल के बराबर थी। इसके इंजिन में पेट्रोल नहीं इस्तेमाल होता था, बल्कि उसकी जगह क्रूड तेल का प्रयोग करते थे। इस तरह इसके परिचालन में कम ख़र्च बैठता था। साथ ही अनुमान यह भी था कि यदि कोई दुर्घटना हुई तो क्रूड तेल पेट्रोल की तरह फ़ौरन् विस्फोट न कर बैठेगा। किन्तु नियति की कुदृष्टि देखिए – १९३७ में यह आकाशपथ की रेल भी दुर्घटना के चक्कर में पड़कर ख़ाक हो गई!

एक बार की उड़ान में बीच में कहीं पर इंजिन के लिए ईंधन लिये बिना यह वायुपोत ८००० मील का रास्ता आसानी के साथ ८० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से तय कर सकता था। कप्तान, ड्राइवर वग़ैरह को मिलाकर कुल ६० व्यक्तियों के लिए इस वायुपोत में जगह थी। स्नानगृह, वाचनालय, भोजनगृह और शयनागार तथा ५० फ़ीट लम्बी डेक—सभी आवश्यक चीज़ों का इस वायुपोत पर समावेश किया गया था।

प्रो० पिकार्ड का आकाश-अभियान

यह गुब्बारे के नीचे बँधा हुआ गंडोला है जिसमें प्रो० पिकार्ड और उनके साथी बैठे थे। चित्र में बाजू काटकर भीतर का भाग दिखाया गया है।
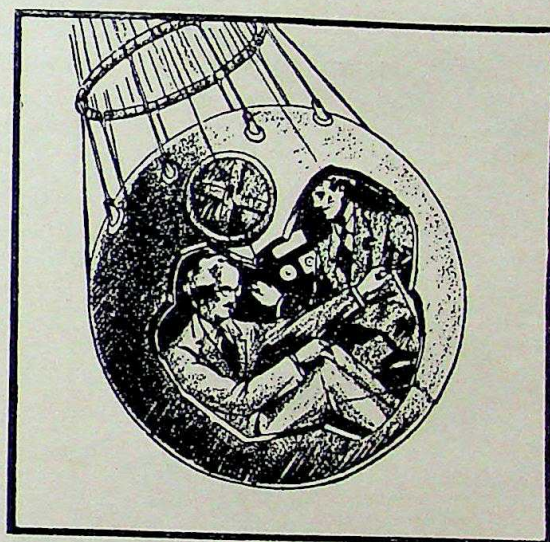
इसके प्रतिकूल ग्रैफ़ ज़ैप्लिन नामक वायुपोत, जो १९२८ में जर्मन जनता के चन्दे से तैयार हुआ था, बराबर १९३७ तक बिना एक भी दुर्घटना के अटलाण्टिक महासागर के एक छोर से दूसरे छोर तक सवारी ढोता रहा। किन्तु हिन्डनबर्ग की दुर्घटना के कारण अधिकारीगण 'ग्रैफ़ ज़ैप्लिन' की ओर से भी सशंकित हो गये और उन्होंने उसे छुट्टी दे दी। ग्रैफ़ ज़ैप्लिन का विशालकाय ढाँचा अब ज़ैप्लिन वायुपोतों का संग्रहालय बना दिया गया है।

वायुपोत-सम्बन्धी लगभग ६० प्रतिशत दुर्घटनाएँ बैग की हाइड्रोजन में आग लगने के कारण हुई हैं। अतः ऐसी गैस की तलाश थी जो हलकी भी हो, साथ ही आग पकड़नेवाली न हो। ऐसी एक गैस 'हीलियम' ही है। इसकी उड़ानशक्ति भी हाइड्रोजन से कुछ ही कम है। किन्तु ज़ैप्लिन के लिए इतनी महँगी गैस को इस्तेमाल करना सम्भव न था। १९०० में जब काउण्ट ज़ैप्लिन ने अपना सर्वप्रथम नियम्य वायुपोत तैयार किया था तब हीलियम विज्ञानशालाओं की एक नायाब चीज़ समझी जाती थी। उन दिनों इसका मूल्य प्रति घन फ़ुट २००० पौण्ड था। किन्तु इस बीच में अमेरिका में खनिज तेल के कुओं से हीलियम गैस सस्ते में तैयार की जाने लगी। यहाँ तक कि अब प्रति घन फ़ुट दो पैसे के हिसाब से हीलियम गैस ख़रीदी जा सकती है।

अतः अब आग की दुर्घटनाओं से बचने के लिए अमेरिका के कई ज़ैप्लिनों में हीलियम गैस का इस्तेमाल होने लगा है। ज़ैप्लिनों में हीलियम गैस इस्तेमाल करने पर वायुपोत के बोझ उठाने की शक्ति कम हो जाती है, और व्यावसायिक दृष्टिकोण से इस कमी के प्रति उदासीन नहीं रहा जा सकता; क्योंकि सवारी और माल इन्हीं दोनों पर ज़ैप्लिन-संचालन का मुनाफ़ा निर्भर है। हीलियम गैस भरने पर ये ज़ैप्लिन पहले की अपेक्षा कम माल-असबाब ढो सकेंगे।

किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हीलियम का इस्तेमाल करने पर भी हम ज़ैप्लिनों को दुर्घटनाओं से सुरक्षित न बना सके। १९३५ में अमेरिका का सबसे बड़ा वायुपोत 'एक्रॉन'— जिसमें हीलियम भरी थी और जो दुर्घटनाओं से परे समझा जाता था—आँधी और विद्युत् तूफ़ान के झोंके के चक्कर में आकर समुद्र में गिरकर डूब गया और ७४ प्राणी तुरन्त जलमग्न हो गये। केवल तीन अपनी जान बचा पाये।

फिर भी आग से बचने के लिए हीलियम का प्रयोग यथासम्भव हर ज़ैप्लिन में किया जा रहा है और ज़ैप्लिन के ढाँचे का बोझ कम करने के लिए भारी भरकम गार्डर

की जगह ख़ास ढंग पर तैयार की हुई धातु की चद्दरें भी काम में लाई जा रही हैं।

हाइड्रोजनवाले ज़ैप्लिन में इंजिन का ईंधन ज्यों-ज्यों ख़र्च होता है, ज़ैप्लिन हल्का होकर त्यों-त्यों ऊपर चढ़ना चाहता है। उसे ऐसा करने से रोकने के लिए हाइड्रोजन के एकाध थैले को खोल देते हैं, जिससे हाइड्रोजन बाहर निकल जाती है और वायुपोत का घनत्व पहले-जैसा बना रहता है तथा ज़ैप्लिन भी उसी पहले की ऊँचाई पर उड़ता रहता है। किन्तु हीलियम-जैसी महँगी गैस को इस तरह नष्ट नहीं कर सकते। अतः हीलियमवाले ज़ैप्लिनों का घनत्व एक-सा बनाये रखने के लिए एक दूसरा ही उपाय काम में लाते हैं। इंजिन से निकलनेवाली भाप को ठण्डी करके पानी बना लेते हैं और उसे इकट्ठा करते जाते हैं। इस तरह पेट्रोल के वज़न की कमी पूरी हो जाती है और ज़ैप्लिन अनायास ही ऊपर चढ़ने नहीं पाता।

हाइड्रोजन से भरे वायुपोतों के लिए सबसे बड़ा ख़तरा उनमें आग लग जाना है जिससे 'हिंडनबर्ग' जैसे वायुपोत भी न बच सके। इसीसे बचाव के लिए वायुपोतों में अब अप्रज्वलनशील 'हीलियम' गैस का प्रयोग होने लगा है।

हीलियमवाले ज़ैप्लिनों के ढाँचे के अन्दर ही इंजिन और मुसाफ़िरों के बैठने की गाड़ी भी रखी जा सकती है, क्योंकि अब उसमें आग लगने का ख़तरा नहीं। ऐसा करने से निस्सन्देह हवा की अवरोधक शक्ति बहुत कम पड़ जायगी और तब ज़ैप्लिन की रफ़्तार में भी काफ़ी वृद्धि की जा सकेगी।

ज़ैप्लिन वायुपोत ज़मीन पर नहीं उतरा करते। लोहे के विशालकाय स्तम्भ, जिन्हें 'मूरिंग मास्ट' कहते हैं, इन वायुपोतों के लिए लंगर का काम देते हैं। हवा में उड़ता हुआ ज़ैप्लिन जब मूरिंग मास्ट के ऊपर पहुँचता है, तो ज़ैप्लिन से लटकता हुआ एक मज़बूत तार मूरिंग मास्ट की एक घूमती हुई पुली से लिपट जाता है। तेज़ी के साथ घूमती हुई पुली वायुपोत को अपनी तरफ़ खींच लेती है और अन्त में वायुपोत के अगले सिरे में लगी हुई एक कँटिया मूरिंग मास्ट के आँकड़े में फँस जाती है। अब यात्रीगण ज़ैप्लिन से बाहर निकलकर इस मूरिंग मास्ट पर आते हैं और विद्युत् लिफ़्ट से नीचे उतर आते हैं। ये मूरिंग मास्ट बड़े मज़बूत होते हैं। तेज़-से-तेज़ आँधी भी मूरिंग मास्ट से ज़ैप्लिन को अलग नहीं कर सकती। हाँ, हवा की दिशा के साथ ज़ैप्लिन का रुख़ भी बदलता रहता है। कुछ थोड़े-से ड्राइवर और मिस्त्री इस वक़्त भी वायुपोत का समतुलन क़ायम रखने के लिए ड्यूटी पर रहते हैं।

ज़ैप्लिनों के सम्बन्ध में एक भारी ख़र्च का मद है उनके रखने के लिए घर का निर्माण। ये घर या शेड प्रायः २०० फ़ीट ऊँचे होते हैं और इनके फ़र्श का क्षेत्रफल कभी-कभी तो आठ-दस एकड़ तक पहुँच जाता है।

हवा से हलके इन वायुपोतों में पंख लगे हुए साधारण वायुयानों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ होती हैं। काफ़ी धीमी रफ़्तार पर ये अपने मूरिंग मास्ट पर उतर सकते हैं और ऐसी जगह में भी जहाँ किसी भी वायुयान के लिए उतरना सम्भव नहीं। फिर वायुपोत इंजिन के बन्द हो जाने पर भी आकाश में भ्रमण कर सकते हैं; क्योंकि ये हवा से हलके होते हैं। इंजिन का काम केवल इन्हें किसी नियत दिशा में ले जाना होता है। लेकिन वायुयान में जहाँ पेट्रोल चुका कि वह बेतहाशा नीचे को गिरा! वायुपोत इस ख़तरे से बरी हैं। किन्तु जहाँ तेज़ रफ़्तार का प्रश्न आता है, वहाँ वायुयान के आगे वायुपोत को कोई पूछता भी नहीं। इसीलिए सैनिक दृष्टि से वायुयानों को विशेष महत्त्व प्राप्त है।
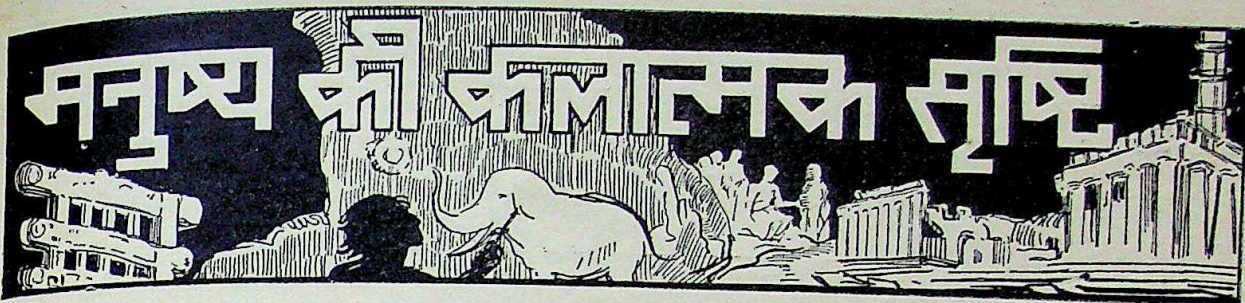
प्राक्-यूनानी कला

पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों तक योरपीय कला के इतिहास का प्रारंभ यूनानी कला से करने की प्रथा जारी थी, पर क्रमशः अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सबसे पहले होना तो दूर रहा, वास्तव में, ग्रीक लोग इस क्षेत्र में सबसे बाद में आए, और एथेन्सवालों ने एक्रॉपॉलिस की नींव डाली उससे हज़ारों वर्ष पहले ही ईजियन समुद्र व्यापार, कला और एक बहुत ही उच्च श्रेणी की सभ्यता का केन्द्र बन चुका था।

मिस्र और असीरिया की पुरातत्त्व-संबंधी खोजों के साथ जैसे शेम्पोलियों और बोत्ता के नाम घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, वैसे ही यूनानी या प्राक्-यूनानी सभ्यताओं के अनुसंधान के क्षेत्र में हम हाइनरिख श्लीमान के सदैव ऋणी रहेंगे। हाइनरिख श्लीमान की जीवन-कहानी ऐसी रोमांचक है कि यदि उसका संक्षेप में यहाँ उल्लेख कर दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। उत्तर के एक निर्धन पादरी का यह लड़का बचपन में मंत्रमुग्ध होकर ट्रोज़न युद्ध की कथाएँ सुना करता। तभी से उसने यह ठान ली थी कि किसी दिन जाकर प्राचीन ट्रॉय के मूलस्थान की खोज करूँगा। किन्तु वह जानता था कि ऐसे साहसपूर्ण कार्य के लिए बहुत बड़ी धनराशि की ज़रूरत होगी। इसलिए सबसे पहले उसने अपने आपको धनवान् बनाने की ओर क़दम उठाया।

अभी वह निरा बच्चा ही था कि काम सीखने के लिए उसने नोन-तेल बेचनेवाले एक बनिए की दूकान में नौकरी कर ली। पर जल्दी ही इस काम को तिलांजलि देकर वह दक्षिणी अमेरिका को जानेवाले एक जहाज़ में यात्रियों के टहलुए की जगह भर्ती हो गया। दुर्घटनावश जहाज़ अपने लक्ष्य-स्थान को पहुँचने के पहले ही डूब गया और बेचारे श्लीमान को पुनः रॉटर-डम की एक डच कंपनी में मुनीम-गिरी का काम करने को विवश होना पड़ा। यहाँ वह सायंकाल का समय भाषाओं के अध्ययन में बिताया करता और इस तरह आठ भाषाओं पर उसने आधिपत्य जमा लिया। रूसी भाषा में दक्ष होने के कारण शीघ्र ही वह सेंट पीटरबर्ग भेज दिया गया, जहाँ उसने बाहरी देशों से नील ख़रीदने के लिए दूकान खोल ली। सन् १८५४ में क्रीमियन युद्ध क्या छिड़ा, मानो श्लीमान के भाग्य जग उठे। उसने फ़ौज की ठेकेदारी में अनाप-शनाप धन कमाया। पर अब भी उसे अपनी इस गहरी कमाई से संतोष न था। इसीलिए जिन दिनों कैलीफ़ोर्निया में सोने की नई खदानों की खोज की धूम मची हुई थी, वह वहाँ चला गया और बाक़ायदा अमेरिका का नागरिक बन गया।
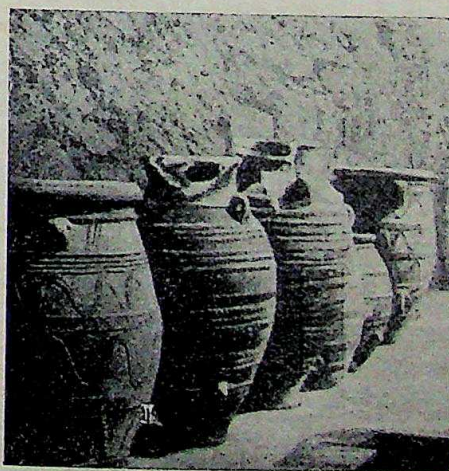
क्नोसोस में 'माइनोस' के राजप्रासाद की खुदाई में प्राप्त मिट्टी के बर्त्तन

१८६८ में, जब उसे इस बात से संतोष हो गया कि चिरकाल से मन में समाई हुई पुरातत्त्वानुसंधान संबंधी अपनी धुन में हाथ लगाने के लिए अब काफ़ी धन जमा हो चुका है, तब तुर्की अफ़सरों को गहरी रिश्वत देकर उसने हेलीज़पान्ट (डार्डनल्स जल-डमरूमध्य) के एशियाई तट पर स्थित हिस्सार्लिक नामक स्थान में खुदाई शुरू कर दी। श्लीमान की तक़दीर अच्छी थी कि हिस्सार्लिक पर ही उसका ध्यान गया। क्योंकि शीघ्र ही यह मालूम हुआ कि यह स्थान पुराने ज़माने में दुनिया के अति महत्त्वपूर्ण

व्यापारिक केन्द्रों में से एक था। परन्तु श्लीमान किसी तरह भी यह बात मानने को तैयार न था कि यह जगह प्राचीन ट्रॉय नगर का मूलस्थान न थी, और अपने अदम्य उत्साह के जोश में उसने अपने मार्ग में पड़ने-वाले प्राचीन ट्रॉय के वास्तविक ध्वंसावशेषों को ही नहीं खोद फेंका, बल्कि उससे भी अधिक प्राचीन कई गाँवों को भी खोद डाला। इसी समय एकाएक उसके और तुर्की अफ़सरों के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ, और फलस्वरूप तुर्की सरकार के हुक्म से हिस्सार्लिक की खुदाई का काम इससे आगे बिल्कुल रोक दिया गया।

श्लीमान ने अब ख़ास ग्रीस के ही प्रधान भू-भाग की ओर अपना ध्यान लगाया, और आर्गोलिस के मध्य-भाग में स्थित माइकीनी नामक प्राचीन नगर की खुदाई शुरू कर दी। इस नगर की विलक्षणता थी उसके दुर्ग में लगे हुए भारी-भरकम पत्थरों की अपूर्व लंबाई-चौड़ाई तथा उसी दुर्ग के प्रवेश-द्वार के सिरे पर स्थापित पाषाण की कई भीमकाय सिंह-मूर्त्तियाँ। पहले के पुरातत्त्वविदों में से किसी ने इस स्थान को छुआ तक न था ; श्लीमान ही सर्वप्रथम व्यक्ति था जिसने इसके छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन किया। उसने सिंह-द्वार के समीप ही खुदाई शुरू की और शीघ्र ही एक बहुत ही निराली बात प्रकाश में आई। यह थी कई ऐसे ताबूतों की पंक्तियाँ जिनमें मुर्दे लिटाये हुए नहीं बल्कि खड़े-खड़े ही दफ़नाये गए थे! ये क़ब्रें गोलाई में पंक्ति-वार रची हुई थीं और खुदाई के समय वे भीतर रक्खे गये सोने-चाँदी के ज़ेवरों के साथ ज्यों-की-त्यों बंद और अछूती पाई गई थीं।

१८८५ में, एक बार और ट्रॉय का चक्कर लगा लेने के बाद, श्लीमान ने पेलोपोनेसस नामक प्रदेश में स्थित एक और अति प्राचीन नगर, टिरिन्स, को अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया। टिरिन्स में श्लीमान ने एक संपूर्ण राजप्रासाद को खोद निकाला, जिसमें भी कुछ ऐसे चिह्न मौजूद थे जिनसे ग्रीस के होमर के पूर्व के युग का कुछ आभास मिलता था।

क्रीट में प्राप्त (१६०० ईस्वी पूर्व का) 'माइनोअन युग' का रंगीन चित्रकारीवाला एक पात्र

(फ़ोटो—'ब्रिटिश स्कूल ऑफ़ आरकियालाजी'।)

तदनन्तर उसने अपना ध्यान क्रीट द्वीप की ओर लगाया, जो ग्रीस के प्रधान भू-भाग से कहीं अधिक पहले आबाद हुआ माना जाता था।

बावजूद इसके कि श्लीमान के अनुसंधानों में कई भारी भूलें और ग़लतियाँ थीं, यह मानना ही पड़ेगा कि उसने यूनानी इतिहास के तिथिक्रम को पूरे सात सौ वर्ष पीछे धकेल दिया—ठीक उसी तरह जिस तरह कि स्वर्गीय राखालदास बेनर्जी द्वारा सिंध में मोहन-जो-दड़ो की खोज ने आरंभिक भारतीय इतिहास के तिथिक्रम को लगभग एक या दो हज़ार वर्ष पीछे तक पहुँचा दिया है।

पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों तक योरपीय कला के इतिहास का प्रारंभ यूनानी कला से करने की प्रथा जारी थी, पर क्रमशः अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सबसे पहले तो दूर रहा, वास्तव में, ग्रीक लोग इस क्षेत्र में सबसे बाद में आए, और एथेन्सवालों ने एक्रॉपॉलिस की नींव डाली उसके हज़ारों वर्ष पहले ही ईजियन समुद्र व्यापार, कला और एक बहुत ही उच्च श्रेणी की सभ्यता का केन्द्र था।

प्राचीन क्रीट के तथाकथित 'माइनोअन युग' के चित्रों के जो अवशेष हमें मिले हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि इस छोटे से टापू के ४००० वर्ष पूर्व के कलाकारों को सजावट के लिए काम में लाये जानेवाले कलात्मक आकारों—विशेषकर जानवरों के चित्रों—की बारीक़ियों में विलक्षण सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त थी। इनके द्वारा अंकित जान-

क्नोसोस से प्राप्त ईजियन कला का एक नमूना

बैल के शीश की आकृति का यह जलपात्र संभवतः पूजा के लिए [illegible] होगा। यह लगभग ३३०० वर्ष पुराना है, और क्नोसोस की खुदाई करते समय सर आर्थर इवान्स को मिला था। [फ़ोटो—'सोसाइटी आफ़ एण्टीक्वेरीज़']

क्नोसोस में खुदाई करने पर निकले 'माइनोस' के महल का एक भाग

सामने रखे हुए भीमकाय मिट्टी के वर्त्तन संभवतः मूल्यवान् पदार्थों को रखने के लिए काम आते थे। [फ़ोटो—'डेस साइक्लेड्स एन क्रीट' से।]

वरों के ये चित्र बहुत ही सजीव और ओजपूर्ण हैं और उनसे वैसे ही सूक्ष्म प्रकृति-अध्ययन की झलक हमें मिलती है जैसा कि हम अल्टामीरा गुफा के कलाकारों में (जिनके बारे में आप 'विश्व-भारती' के दूसरे अंक में पढ़ चुके हैं) पाते हैं। क्रीट के ये कलाकार क्या स्पेन की गुफ़ाओं के प्रागैतिहासिक कलाकारों के ही वंशज थे; क्या कला का रूप और शैली हज़ारों वर्ष (इस संबंध में लगभग १०००० वर्ष) तक बचे रह सकते हैं; क्या स्पेन के वे कंदरा-निवासी कलाविद् जलवायु-संबंधी परिवर्त्तनों द्वारा खदेड़े जाकर क्रमशः अधिक समशीतोष्ण जलवायु के स्थानों में आ बसे थे और ईजियन समुद्र के इन द्वीपों में उन्होंने अपने लिए नया घर पा लिया था—ये प्रश्न केवल कल्पना की उड़ान के विषय हैं, कोई निश्चित बात इस संबंध में नहीं कही जा सकती।

माइकीनी और टिरिन्स की रहस्यपूर्ण भीमकाय दीवारें अब उतनी प्राचीन नहीं मानी जातीं जैसे कि पहले कल्पित की जाती थीं और अब यह ख़याल किया जाता है कि इन दीवारों और योरप के अटलांटिक तट के प्रागैतिहासिक पाषाणगृहों (Dolmens) तथा भौंड़ी स्मारक मूर्त्तियों (Menhirs) एवं इंगलैंड की सुप्रसिद्ध "स्टोनहेंज" में स्पष्ट जातीय संबंध है। मानव सभ्यता के इस अंश का इतिहास अस्पष्ट और धुँधला-सा है, अतएव हर कोशिश के बावजूद भी इन दोनों में हम संबंध स्थापित नहीं कर पाये हैं। 'साइप्रस' का अर्थ होता है 'ताम्रद्वीप', किन्तु इसका हमें कोई पता नहीं कि इस द्वीप ही से तत्कालीन प्रागैतिहासिक जगत् को ताँबा मिला करता था। हम यह भी नहीं जानते कि उन शताब्दियों के बीच जब क्नोसोस प्राचीन जगत् की सभ्यता का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था (मोटे तौर पर लगभग २५०० से १५०० ई० पूर्व तक), तब क्रीट और प्राचीन मिस्र के किस तरह के संबंध थे। न हमें यह ही पता है कि वे क्रूर आक्रमणकारी कौन थे, जिन्होंने मानो एक ही रात में इस सुसमृद्ध साम्राज्य को इतने पूरे तौर से तहस-नहस कर दिया कि आगे के ५०० वर्षों तक वहाँ के मूल निवासियों का निशान तक हमें नहीं मिलता।

आधुनिक ऐतिहासिक अनुसंधान को अभी इन समस्याओं को हल करने में सफलता नहीं मिल पाई है, यद्यपि आज दिन हम बर्बर एवं क्रूर असीरिया अथवा पुरोहितशाही के उपासक रहस्यमय प्राचीन मिस्र की अपेक्षा ईजियन सभ्यता के साथ एक अधिक समान आत्मिक एवं सांस्कृतिक नातेदारी का अनुभव करते हैं। मिस्र और असीरिया के प्रासादों की आडम्बरयुक्त भव्यता और विशालता के बावजूद भी उनमें स्वच्छता के साधन तथा हवा और रोशनी के आने-जाने की व्यवस्था का बिल्कुल अभाव-सा है, जबकि ईजियन इमारतों और महलों में, स्वयं हमारे देश में पाई गई मोहन-जो दड़ो की इमारतों की तरह, प्रकाश के आने-जाने तथा पानी बाहर निकालने की बड़ी सुंदर व्यवस्था होती थी। वहाँ के कई सार्वजनिक भवनों में पानी बाहर निकालने की नालियाँ, बहते हुए पानी को यहाँ-से-वहाँ पहुँचाने की व्यवस्था तथा गर्म करने के लिए यंत्र होते थे। पुरातत्त्ववेत्ताओं को वहाँ ऐसी व्यवस्थाओं का भी पता लगा है, जिनके द्वारा लोग यंत्र द्वारा खींचकर एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल को पहुँचा दिए जाते थे—यह एक तरह का आदिम 'लिफ़्ट' था, जो वृद्ध और कमज़ोर व्यक्तियों के लिए लाभप्रद था। इसके अतिरिक्त हमें वहाँ रहने के कमरों के साथ जुड़े हुए स्नानागारों और शौच्यगृहों, विभिन्न कमरों के बीच घुमावदार दरवाज़ों, तथा ख़ानगी कमरों का भी पता मिलता है, जिनमें राजकीय मंत्री या सेक्रेटरी लोग अन्य नौकरों-चाकरों की भगदड़ से निर्विघ्न होकर काम करते रहते थे।

सवारी और दौड़ दोनों के लिए उपयुक्त उत्तरकालीन रोमन लोगों जैसे पहिएदार वाहन भी यहाँ मिले हैं। हमारी तरह ये लोग भी हर तरह के खेल-कूद, नृत्य, घूँसेबाज़ी, कुश्ती और साँड़ों की लड़ाई के बेहद प्रेमी थे।

वर्त्तमान शताब्दी के आरंभ-काल के लगभग सर आर्थर इवान्स ने क्नोसोस के खंडहरों की खुदाई शुरू की और कई प्राचीन स्मारकों को खोद निकाला तथा उनका सही-सही अर्थ भी लगाया, जिससे ईजियन सभ्यता के विकास के धारा-प्रवाह को किसी हद तक सही तौर से समझ पाना अब संभव हो गया है।

सबसे पहले, हम बहुत शिथिल विकास का एक युग पाते हैं, जो लगभग एक हज़ार वर्ष तक (३००० से २००० ई० पू० तक) रहा और जिस बीच सभ्यता एक द्वीप से दूसरे द्वीप को फैलती गई।

इसके बाद आया माइनोअन युग (२००० से १५०० ई० पू० तक), जिसमें क्रीट इस सभ्यता का केन्द्र था और क्नोसोस उस द्वीप-साम्राज्य का प्रधान आधारबिंदु।

अन्त में माइकीनियन युग (१५०० से १०६० ई० पू०) का आविर्भाव हुआ, जिसमें ईजियन सभ्यता यूनानी द्वीपों से स्वयं यूनान के ही प्रायद्वीप में फैल गई। ईजि-

यन समुद्र के द्वीपों से जो उपनिवेशक यूनान में आये थे वे मूल द्वीपवासियों से कहीं अधिक दृढ़ साबित हुए। क्रमशः माइकीनी-जैसे नगर, जिनका जन्म क्रीटवालों की मामूली व्यापारिक बस्तियों के रूप में हुआ था, मातृ-प्रदेश (क्रीट) से स्वतंत्र हो गए और अंत में स्वयं क्रीट को ही उन्होंने अपना एक उपनिवेश बना लिया।

शांति और समृद्धि के इस युग में यूनान के प्रधान भू-भाग में कला ख़ूब फली-फूली। उसने मिट्टी के बर्त्तन बनाने की कला, धातु का काम, सोने-चाँदी के आभूषण बनाने की कला आदि विविध रूप ग्रहण कर लिये, और उस समय से क्रमशः फ़ीनिशिया से स्पेन और मिस्र से इटली तक भूमध्यसागर के सभी तटवर्त्ती भू-भागों में उसका विस्तार होता गया। इसके बाद एक रहस्यमय अंधकार-युग हमारे सामने आता है, जिसके ऊपर से अंधकार के बादल हटकर पुनः प्रकाश दिखाई देता है तब तक क्रीट-वालों और माइकीनीवालों दोनों के तारतम्य को हम खो बैठते हैं और लगभग ५०० वर्ष तक उनके बारे में हम कुछ भी देख या सुन नहीं पाते। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि टिरिन्स या माइकीनी-जैसे सुदृढ़ क़िले-बंद नगर अज्ञात आक्रमणकारियों द्वारा कैसे पराजित और नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए होंगे, जब तक कि आक्रमणकारियों के पास इनसे अधिक ऊँचे दर्जे के हथियार, जन-शक्ति और संगठन न रहे होंगे। ये आक्रमणकारी वास्तव में कौन थे इसका हमें तनिक भी पता नहीं है। यह अनुमान किया जाता है कि ये लोग आरंभ में उत्तर से—डैन्यूब नदी की घाटी से—आये थे और लोहे के भाले और तलवार बनाने में बड़े पटु थे। परंतु होमर की रचनाओं में ऐसे कोई भी लोगों का उल्लेख नहीं है। उसके अनुसार यूनान के आदिम निवासी 'एकियन' कहलाते थे और वे योरप के उत्तर में संभवतः (आज के कॉसेक लोगों के पूर्वज) सिथियनों के देश में रहते थे। किन्तु ये चाहे एकियन रहे हों चाहे और कोई, इन आक्रमणकारियों ने यूनान के प्रधान भू-भाग के क़िलेबंद नगरों में बची-खुची ईजियन सभ्यता को कुचलकर संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इन लोगों ने यह कार्य घोर निर्दयता और तीव्रता के साथ किया होगा, वरना ये लोग उस सोने को कदापि न छोड़ते, जो उन अद्भुत ताबूतनुमा क़ब्रों में गड़ा पड़ा था, जिन्हें ३००० वर्ष बाद श्लीमान ने ज्यों-की-त्यों असली हालत में पाया था।

ज्यों-त्योंकर विजित प्रदेशों का संगठन कर लेने के बाद इन नवीन अधिकारियों ने माइकीनी के प्राचीन राज-

माइनोस के महल में दीवार की चित्रकारी का एक नमूना, जिससे क्रीट के कलाकारों के प्रकृति-अध्ययन की झलक मिलती है।
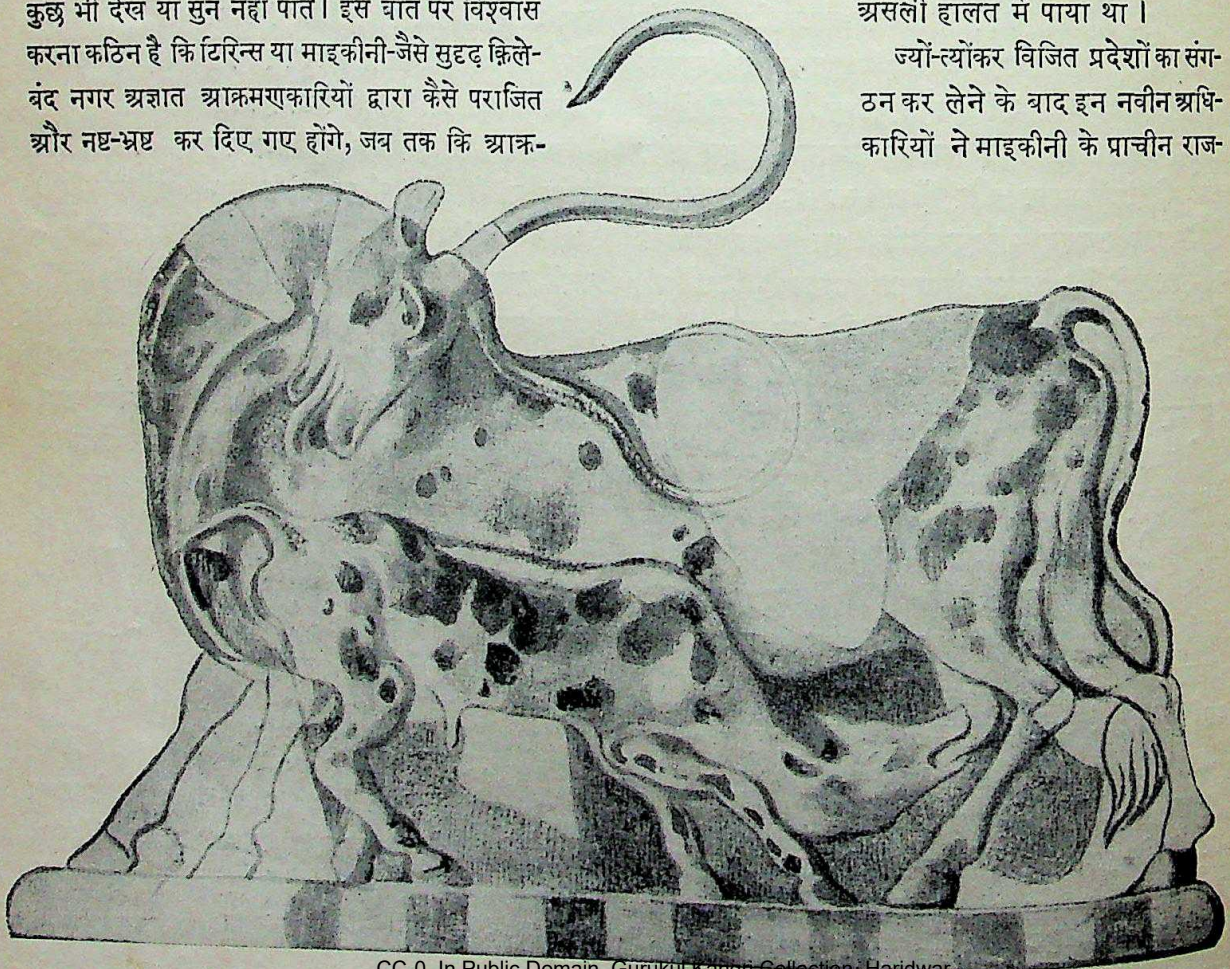
प्रासादों के अपरिचित वैभव के वातावरण में अपने आपको सुखपूर्वक स्थापित करने की कोशिश की, किन्तु सब कुछ कर लेने पर भी उन्हें चैन न पड़ा, क्योंकि उन्होंने देखा कि उनमें एक ऐसी वस्तु का सर्वथा अभाव था, जिसका कि उनसे पूर्व के निवासियों के पास बाहुल्य था। जब विजित और विजेताओं के बीच व्यापारिक संबंध पुनर्स्थापित हो गया, तब स्वभावतया उनमें विचारों और सांस्कृतिक भावनाओं का अधिक घनिष्ठ रूप से विनिमय होने लगा, जिसके फलस्वरूप बर्बर उजड्ड विजेताओं पर सुखप्रद सभ्य जीवन का मधुर प्रभाव पड़ने लगा। माइकीनी की स्त्रियाँ जिन-जिन विशेष बातों का उपभोग करती हैं उनसे हम और हमारे बच्चे क्यों वंचित हैं, इस ईर्ष्या-युक्त जिज्ञासा के भाव से प्रेरित होकर जब बर्बर विजेता की पत्नी उसे लगातार दिक् किया करती रही होगी, तब विवश होकर उसने सबसे नज़दीक के द्वीप से कुछ कारीगरों, स्थापत्यविशारदों, धातु का काम करनेवालों तथा ऐसे कुछ लोगों को बुला भेजा होगा, जो उसे वे कलाएँ सिखा सकें, जिनसे कि वह बिल्कुल अनभिज्ञ था, किन्तु जो उसके भोलेभाले मन में विस्मय का और उसकी स्त्री के मन में ईर्ष्या के भाव का संचार किया करती थीं।

माइनोअन युग की एक खंडित मूर्त्ति

आरंभ में तो ये कारीगर सताये जाने के भय से वहाँ जाने में हिचकिचाए, पर चूँकि उन्हें जीवित रहना था, इसलिए किसी प्रकार साहस करके वे ग्रीस के प्रधान भू-भाग पर आने-जाने लगे। क़रीब ५०० वर्ष तक यह क्रम चलता रहा और तब अंततः हम वहाँ एक ऐसी कला का रूप प्रकट होते हुए देखते हैं, जो न तो ईजियन या माइनोअन थी, न माइकीनीयन ही; बल्कि निश्चित रूप से विशुद्ध ग्रीक या यूनानी कला थी।
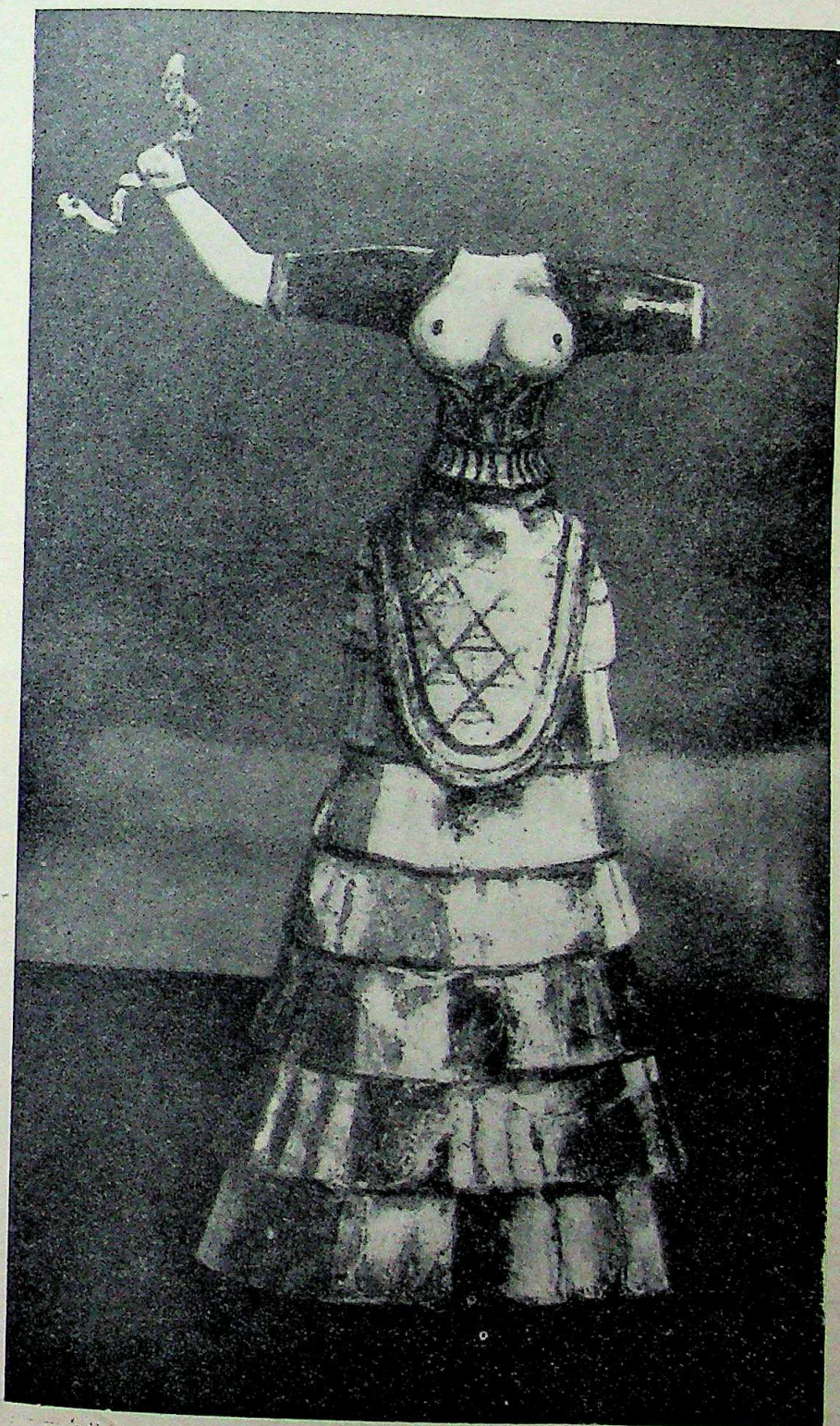
नूबियन जाति की युवतियाँ

इनके ऊन जैसे घुँघराले बाल, मोटे ओंठ और काला रंग इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इनमें कुछ निग्रो रक्त मिश्रित है, फिर भी इनके चेहरों के काट और डील-डौल सुंदर होते हैं।
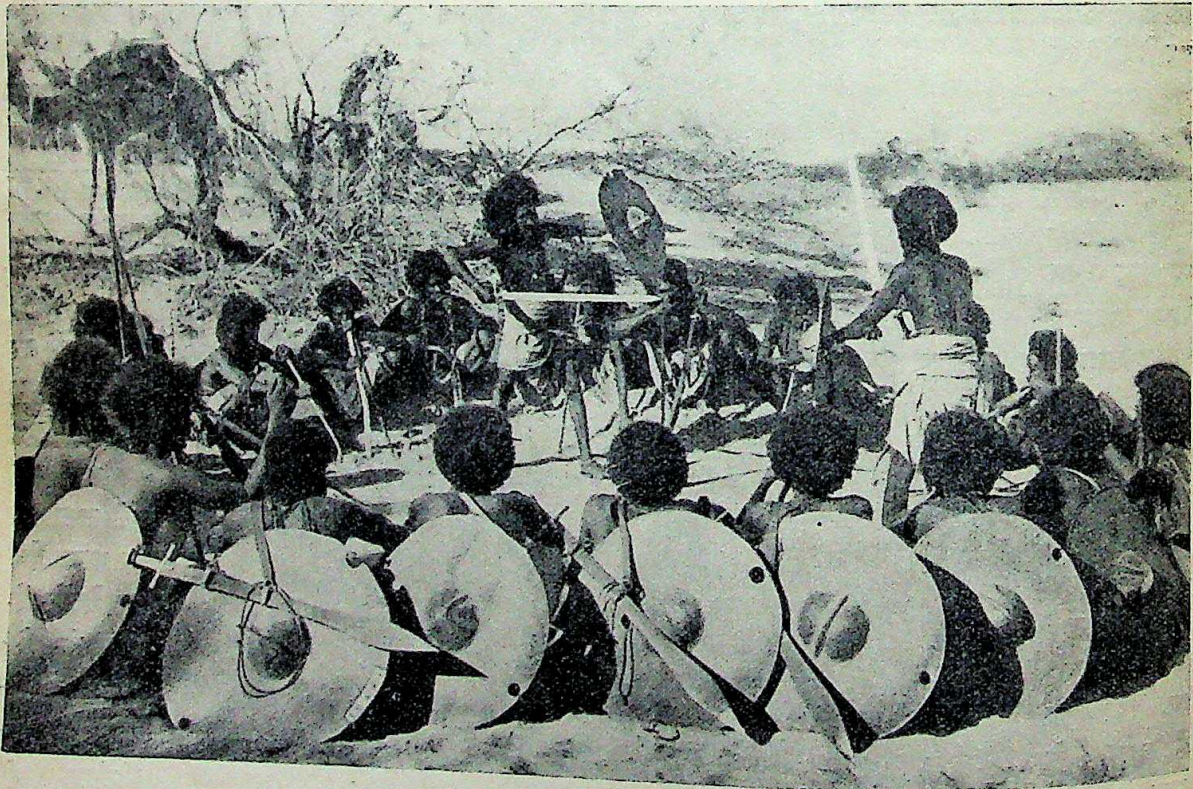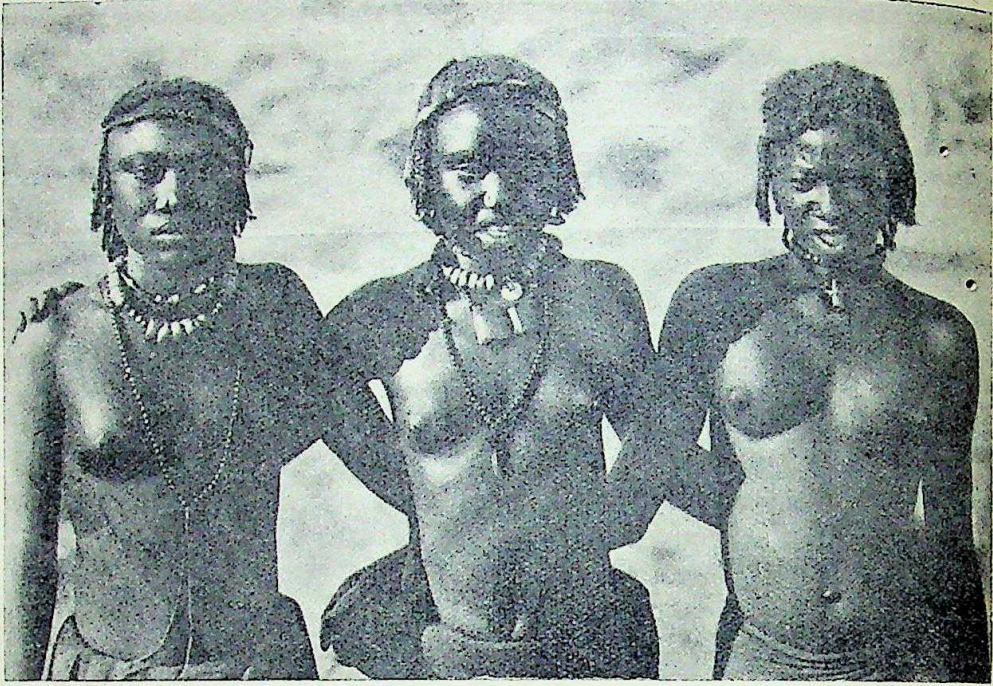
सूदान में बसनेवाली एक ख़ूँख़ार जंगली जाति के लोग जो फ़ूज़ी-वूज़ी कहलाते हैं

इन्हें बचपन से ही लड़ाकू होने की शिक्षा दी जाती है। इस चित्र में इनके एक नृत्य विशेष का दृश्य है। इस नृत्य में दो आदमी हाथ में तलवार या खंजर और ढाल लेकर पैंतरे बदलते हुए लड़ने का प्रदर्शन करते हैं [illegible] के हाथ दिखाए जाते हैं और कभी-कभी तो ये घायल भी हो जाते हैं। यह इन लोगों के लिए न सिर्फ़ मनोरंजन का ही साधन है वरन् युवकों को इससे युद्ध की शिक्षा भी मिलती है।

सूदान के बाशिन्दे

अफ़्रीक़ा महादेश के किसी देश का ख़याल आते ही हम वहाँ अन्धकार देखने लगते हैं। हमारी कल्पना में शेर और हाथियों से भरे जंगल, नर-बलि करनेवाली ख़ूँख़ार जातियाँ और चारों तरफ़ सिर्फ़ काले-काले निग्रो लोगों की आबादी नज़र आने लगती है। हममें से बहुत ही कम आदमियों को इस बात का पता है कि सारे उत्तरी अफ़्रीक़ा में बसनेवाली जातियों में एक भी विशुद्ध निग्रो की क़िस्म की नहीं है।

'सूदान' शब्द का अर्थ है 'कालों का देश', पर यह नाम एक अंश में भ्रमात्मक है। सूदान के रहनेवाले काले अवश्य होते हैं पर वे निग्रो की क़िस्म से जुदा हैं। जाति की दृष्टि से हम मोटे तौर पर तीन भाग में सूदान के बाशिन्दों को बाँट सकते हैं—अरब, हामायत और बर्बर। ये तीन जातियाँ आजकल बहुत छीटफूट बसी हैं। इनकी आबादी भी अंगरेज़ों का आधिपत्य जम जाने के बाद बहुत कम हो गयी है। अंगरेज़ दक्षिणी अफ़्रीक़ा के उपनिवेशों से भूमध्य-सागर तक के अपने कब्ज़े के इलाक़ों के बीच स्थल-संबंध जोड़ना चाहते थे। इस दृष्टि से सूदान बड़े महत्व का देश साबित हो रहा था। फ़ौजी दृष्टि से इस उपयोगिता के सिवा अंगरेज़ों को सूदान की रुई का भी लालच था। इसीलिए गत शताब्दी के अंतिम चरण में उन्होंने अफ़्रीक़ा की इस १,०२४,४०० वर्गमील भूमि पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सरकारी तौर पर इस दख़ल किये गये देश का नाम 'ऐंग्लो-ईजिप्शियन सूदान' रक्खा गया है।

इस सूदान का अधिकांश भाग मरुभूमि है। लगभग सारा देश ही इस भाँति रूखा-सूखा और वीरान है कि मनुष्यों के लिए एक स्थान पर टिक पाना कठिन हो जाता है। बाशिन्दे अधिकतर ख़ानाबदोश हैं। हाँ, श्वेत नील नदी तथा अबीसीनिया के पहाड़ों से निकली हुई उसकी दो शाखाओं—नीली नील और अतबारा—नदियों के किनारे बहुत थोड़ी आबादी ऐसी भी है जो अपना स्थान परिवर्तन नहीं किया करती।

नील नद की एक और सहायक नदी सोबत नदी है। जिन
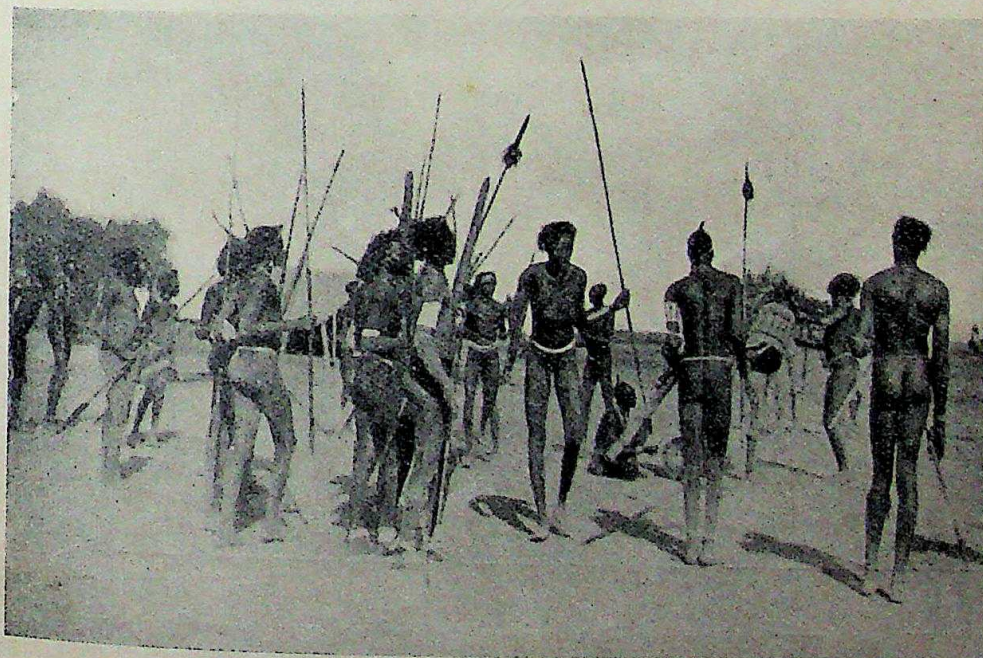
उत्तरी सूदान के जंगली बाशिन्दों का नृत्य

ये सोबत नदी के तट पर रहते हैं और कद में ६ से ७ फ़ीट तक लंबे होते हैं।

इलाक़ों से होकर यह नदी बहती है वे बड़े ही अस्वास्थ्यकर हैं। उत्तरी काँगो की ओर से आनेवाली बहर-एल-ग़ज़ल नामक नदी जहाँ पर नील से मिलती है वहाँ बहुत बड़ा दलदल बन गया है। सारा सूदान इस दलदल और मरुभूमि से बना है। इसलिए पूर्वीय सूदान का एक चौथाई से अधिक भाग उपजाऊ नहीं है। यह समूचा देश ही एक तरह से दलदल में बसा है। नील नदी यहाँ औसत एक मील में सात इंच ही नीचे उतर पाती है। इसलिए देश के दक्षिणी हिस्से के दलदल और भी भयानक रूप धारण कर लेते हैं। इन इलाक़ों में जहाँ नदी में काफ़ी पानी है वहाँ भी इतना अधिक सिवार होता है कि नौका द्वारा यातायात की यहाँ सुविधा नहीं है।

सूदान में बसनेवाली मेसेरिया नामक एक जाति की स्त्री

इस जाति से नूबा जाति के लोग बहुत डरते हैं।
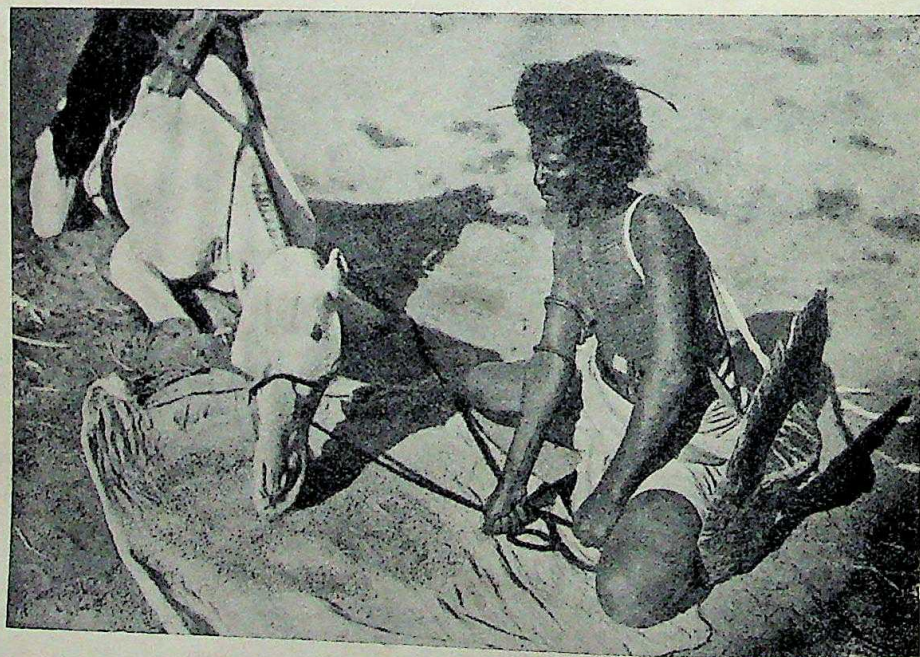
सूदान की लड़ाकू फ़ज़ी-वुज़ी जाति का एक योद्धा अपने ऊँट को दाना खिला रहा है।

उत्तरी सूदान की मरुभूमि में ज़िन्दगी बसर करनेवाले अरब हैं। ये इस्लाम मज़हब के अनुयायी हैं। सूदान में बसनेवाली और सब जातियों की अपेक्षा ये अधिक सभ्य हैं। ये अपनी आज़ादी का भी महत्त्व समझते हैं। सन् १८६२ में लार्ड किचनर के हमला करने के पहले इनकी आबादी पचासी लाख के लगभग थी। पर हमले के बाद ये बीस लाख से भी कम बच रहे। इन्होंने अंगरेज़ी फ़ौज का मुक़ाबला बड़ी बहादुरी से किया। पर लड़ाई के आधुनिक अस्त्र-शस्त्र पास में न रहने के कारण ये ज़्यादा दिन टिक नहीं सके। अंगरेज़ों के द्वारा इतने अधिक तबाह किये जाने के बाद भी इनकी जाति ज़िन्दा बची है। यही इनकी ताक़त का बहुत बड़ा परिचायक है।

जिस प्रदेश में ये अरब रहते हैं और अनवरत यात्रा किया करते हैं वहाँ इन्हें सवारी तथा अपना सामान ढोने के लिए सिर्फ़ ऊँट मिलते हैं। बालुकामय तथा विशाल जलरहित प्रदेशों में ऊँट ही सबसे अधिक उपयोगी साबित भी हो सकते हैं। वहाँ की परिस्थिति को देखते हुए
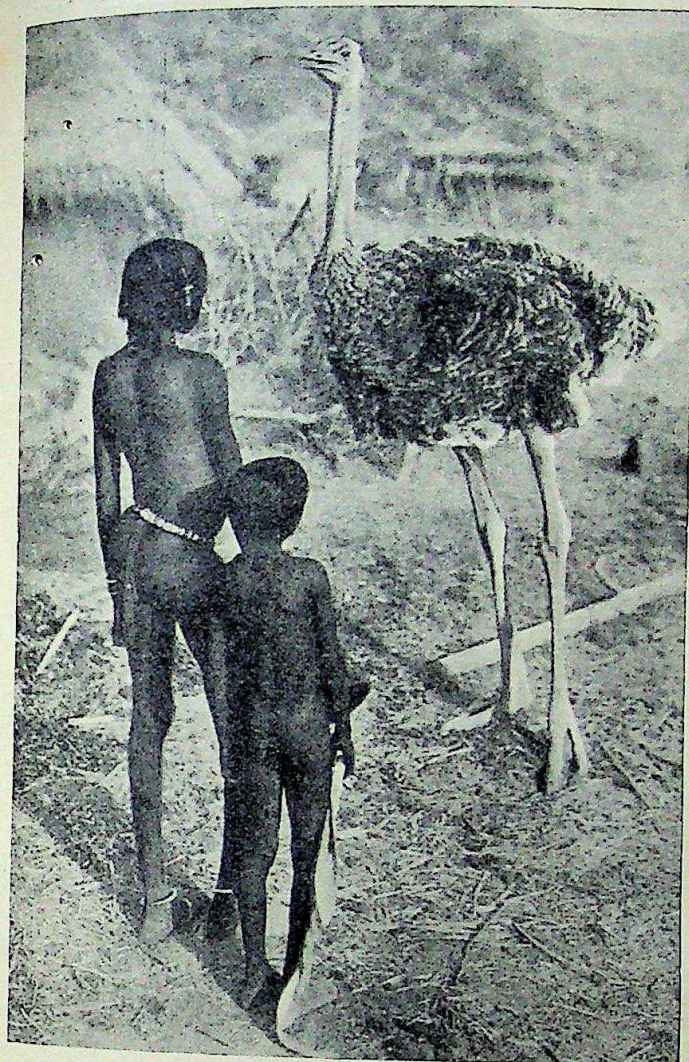
दो नूबा लड़कियाँ और उनका पालतू शुतुर्मुर्ग

ऊँटों की चाल की रफ़्तार को बहुत तेज़ ही मानना पड़ेगा। ख़ानाबदोश अरबों का इस संसार में जितनी चीज़ों पर आधिपत्य होता है उन्हें वे ऊँटों पर ही लादे चलते हैं। उनके जीवन को हम लोगों में से कोई भी, आराम का जीवन तो दूर रहा, बसर करने लायक़ भी शायद ही क़रार दे। इनके अस्थायी पड़ावों को 'झोपड़े' की इज़्ज़त भी नहीं दी जा सकती। मरुभूमि की भुन डालनेवाली लू से भी भयानक धूल से भरी हवा हमेशा ही चलती रहती है। हमेशा चकाचौंध कर देनेवाली धूप आँखों को ख़राब करती रहती है, साथ ही उड़नेवाली धूल भी आँखें खोलना असंभव-सा बना देती है। इसीलिए यहाँ के बाशिन्दे अपनी गर्दन तथा चेहरा कपड़े से हमेशा ढका रखते हैं।

इन सबके ऊपर भोजन जुटाने की मुसीबत रहती है। जीवन का अधिकांश समय इन्हें कम-से-कम भोजन और पानी पर बिताना पड़ता है। यदि इनका कुछ पेशा कहा जाय तो वह भेड़ पालना और व्यापार है। लालसागर-तट से संबंध जुड़े रहने के कारण तरह-तरह के आयात-निर्यात की सामग्रियों से ये व्यापार किया करते हैं। विदेशी पूँजी का प्रोत्साहन मिलने पर अपने से निम्न कोटि की जातियों के आदमियों तक का ये व्यापार किया करते थे। इसके सिवा व्यापारिक क़ाफ़िलों को लूट लेना भी इनमें ऐसी आम और रोज़मर्रे की बात हो गई है कि उसे भी इनके पेशे में ही शुमार कर लिया जा सकता है।

एक ख़ास ख़ूबी जो इन लोगों में पाई जाती है वह इनकी व्याकुलता है। ये अपने मरुभूमि के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं। ये अपने को सुखी बनाने की कोशिश किया करते हैं। पर इसमें कठिनाईयाँ आती रही हैं। अंगरेज़ों का आधिपत्य होने के बाद वे अपनी पहले की आज़ादी में कमी हो जाने के सिवा आर्थिक अवस्था में भी गिर जाना महसूस करते हैं। इसीलिए हमेशा अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत खड़ाकर डालने की धुन में ये लगे रहते हैं।

आधुनिक युद्ध-विद्या में प्रवीण अंगरेज़ी फ़ौज से लड़ने के लिए उनके पास उपयुक्त हथियार नहीं। जब-जब उन्होंने सर उठाया है उन्हें हार ही खानी पड़ी है। इसलिए इस हार को बर्दाश्त करने तथा आगे के लिए हिम्मत बाँधने का उनमें एक निराला ढंग ही निकल आया है।

प्रकृति के विरुद्ध संग्राम करते-करते उन्हें दृढ़तापूर्वक पाँव जमाकर संग्राम करने की आवश्यकता पड़ती है। यही दृढ़ता उनके लिए मज़हब का काम देती है। यदि भली भाँति उनका मनोविश्लेषण कर देखा जाय तो उनके लिए इस्लाम मज़हब की कट्टरता और परिस्थिति के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक पाँव जमाकर लड़ते जाने की सिफ़त में एक ही तरह की ताक़त काम करती हुई दिखाई देगी। परिस्थितिवश अपने पास के अस्त्रों की अपेक्षा कहीं अधिक मज़बूत रहने के साधनों की आवश्यकता के कारण दृढ़तापूर्वक टिके रहने के लिए उन्हें अन्धविश्वास से काम लेना पड़ता है। यही अन्धविश्वास उनके लिए ताक़त का काम देता है, जिसके बल पर वे लड़ाई में टिक पाते हैं और अपने को जीवित रखने में समर्थ होते हैं।

इन अरबों को प्रकृति ने लड़ते जाना ही सिखलाया है। इसीलिए 'मौज' या 'आराम'-जैसी चीज़ें इनके लिए गौण रहती हैं और उनके प्रति इनका विशेष आकर्षण नहीं होता। उदाहरण के लिए हम औरतों के प्रति उनका व्यवहार ही लें। अंगरेज़ों से लड़ाई लेने के समय तक वे आपसी लड़ाइयों के तरीक़े पर औरतों तक को लड़ाई के मैदान में अपने साथ रखते थे। मर्द लड़ते थे और उनके बग़ल में औरतें उनके लिए खाना पकाया करती थीं! लड़ाई के लिए खाना आवश्यक था और खाना जुटाने के लिए औरतों की ज़रूरत पड़ती थी, इसीलिए इन अरबों को औरतों की दरकार रहती थी। उन्होंने ज्यों ही अंगरेज़ों के साथ के युद्ध में देखा कि लड़ाई के समय सहायक साबित होने के बजाय औरतें बाधक साबित होती हैं तो उन्होंने औरतों को साथ ले चलना तुरन्त ही छोड़ दिया।

ये अरब लड़ाई के ही दीवाने हैं। उनके एक ख़ास फ़िर्क़े के लोग 'दरवेश' कहे जाते हैं। दरवेश शब्द का अर्थ साधु या भिखारी होता है। पर ये साधु या भिखारी लड़ने के लिए ही होते हैं। इनके भिखारी बनने या साधुगिरी अख़्तियार करने का ख़ास कारण लड़ाई में अधिक उपयोगी साबित हो सकना ही रहता है। यह लड़ाई का पाठ भी जिस मरुभूमि में वे रहते हैं उसकी रुखाई ने ही उन्हें सिखाया है। वही उन्हें अपने जीवन के ढर्रे को बदल देने के लिए मजबूर करती रहती है। स्वयं ये लोग भी उस ढर्रे को बदलने में अपनी पूरी ताक़त लगाया करते हैं, इसीलिए हम इन्हें सभ्यता की ओर अग्रसर होते हुए लोगों में गिन सकते हैं।

दक्षिणी सूदान उत्तरी सूदान से भिन्न है। इसीलिए यहाँ पर बसनेवाली जातियाँ भी भिन्न प्रकार की हैं। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उत्तरी सूदान से चलकर हम लोग ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर आते हैं हमारे चारों तरफ़ की प्रकृति दूसरा रूप धारण करती जाती है, और उसके साथ-ही-साथ उसी प्राकृतिक परिवर्त्तन के अनुपात में हम विभिन्न प्रकार की जातियों का रहन-सहन पाते हैं। सबसे पहले हमें कुछ मिश्रित रक्तवाली जातियाँ मिलती हैं, जिन्हें साधारणतया हामायत नाम दिया गया है। इनमें भी प्रथम हमें भूमध्यसागर तट की कुछ जातियों से मिलती-जुलती एक जाति मिलती है। इस जाति के लोगों का समय अधिकतर बाल सँवारने में जाता है। ये भेड़ की चर्बी और बहुत रंग के 'पाउडर' बालों में लगाते हैं। बालों को ये सीधे इस प्रकार चर्बी और पाउडर लगाकर खड़ा-कर लेते हैं कि वे दूर से दो सींग की तरह दीखते हैं। इनकी आजीविका पशुपालन से होती है और इनमें भी हमेशा स्थान-परिवर्त्तन करते रहने की प्रवृत्ति रहती है।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इनके सामने हमेशा पशु ही रहते हैं। उन्हीं के गहरे संपर्क में ये रहते हैं और इसीलिए उनसे अधिक क़ीमत की कोई चीज़ संसार में इनके लिए नहीं होती। अपने कब्ज़े के पशुओं की रक्षा और अधिक संख्या में उन्हें बटोरकर अपनाने की चेष्टा में ही इनकी लड़ाइयाँ होती हैं। भूमि सिवा चरागाह होने के और कोई महत्त्व इनके लिए नहीं रखती। इनका भोजन मुख्यतया मांस, दूध और ख़ून होता है।

जहाँ तक समाज-व्यवस्था का संबंध है, वह इनके बीच अपने निजी ढंग पर ही संगठित होती गई है। इनके नवयुवक अविवाहित लड़कियों के साथ अपने मवेशी चराया करते हैं और मवेशियों की रक्षा के लिए बर्छे

मेसेरिया जाति का एक योद्धा

इनसे नूबियन जाति के लोग बहुत डरते हैं, क्योंकि ये प्रायः उन पर आक्रमण कर उन्हें मार डालते अथवा ग़ुलाम बनाते रहे हैं।

चलाने का अभ्यास करते हैं। उन्हें इसी समय से इस बात की शिक्षा दी जाती है कि ज्यों ही कोई आदमी उनके मवेशी पर अधिकार जमाने की चेष्टा करने आवे वे उसे मार डालें। अपने भीतर यही सन्देह रहने के कारण उनकी अपनी पड़ोसी जातियों के साथ लड़ाई चलती रहती है जिसमें बहुत-से लोग मारे जाते हैं। इनकी औरतें लड़ाई की भीषणता कम करने की कोशिश में रहती हैं। एक तरफ़ मर्दों की लड़ाई चलती है और दूसरी ओर इनकी औरतें खाल और दूध देकर पड़ोसवालों से शाक और अन्न लेने की कोशिश करती हैं। कभी-कभी जब यह विनिमय लाभदायक प्रतीत होने लगता है तब लड़ाई की भयंकरता वास्तव में ही कम हो जाती है। बड़े हो जाने पर नवयुवक शादी कर लेते हैं और अधिक स्थिर जीवन बिताने लगते हैं। पशु-रक्षा का भार नये नवयुवकों पर आ जाता है। इन लोगों में सफ़ाई तथा औषधियों की व्यवस्था न रहने के कारण कभी-कभी बहुत अधिक बीमारियाँ फैल जाती हैं, जिनमें इनके अधिकांश पशु मर जाते हैं और मनुष्यों की भी आबादी बहुत कम हो जाती है।

हम ज्यों-ज्यों सूदान के दक्षिणी हिस्से की ओर बढ़ते जाते हैं, लोगों की ज़बान भी बदलती हुई पाते हैं। उत्तर में अरबी, पर दक्षिणी हिस्सों में नूबियन अपभ्रंश की चलन है। ये नूबियन जाति के लोग भी काले होते हैं, क्योंकि इनमें दक्षिण के निग्रो तथा उत्तर के अरबों के ख़ून का मिश्रण रहता है। नूबी शब्द का अर्थ दास होता है। ये लोग बहुत अर्से तक उत्तर में बसनेवाले अरबों के दास रहे हैं। शायद इनका यह नाम भी अरबों का ही दिया हुआ है। जब से स्वयं अरब अंगरेज़ों के ग़ुलाम हो गये हैं, वे स्वयं बहुत कुछ नूबियों की श्रेणी में आ गये हैं।

नूबी जाति के लोगों के चमड़े काले होते हैं, पर ये देखने में निग्रो-जैसे बदसूरत नहीं होते, क्योंकि इनके चेहरे का काट सुन्दर होता है। कितने लोगों का अनुमान है कि यह सौन्दर्य विभिन्न जातियों के रक्त-मिश्रण के कारण आया है। उत्तर के अरबों की तुलना में नूबी शांत और अधिक तीक्ष्णबुद्धि होते हैं। पर अरबों जैसी ख़ानाबदोशी की सिफ़त से ये भी बरी नहीं हैं। जहाँ कहीं भी ये अपने बकरे के खाल का बना तम्बू लगा लेते हैं, वहीं इनका घर बन जाता है। मरुभूमि के इलाक़ों में जहाँ-जहाँ इन्हें हरियाली (ओएसिस) दीखती है वहाँ-वहाँ वे व्यापार और अपने पशुओं के चरागाह की खोज में जाया करते हैं। नूबियन मरुभूमि इनमें भी व्याकुलता भरे रहती है और ये सारा जीवन ख़ानाबदोशी में बिताकर उस व्याकुलता से छुटकारा पाने की चेष्टा किया करते हैं।

सूदान का एक दरवेश

ये रहते तो फ़क़ीर के भेष में हैं, पर बड़े ख़ूँख़ार और लड़ाकू होते हैं।

सूदान के पश्चिमी भाग में बहर-एल-ग़ज़ल के इलाक़े में भूमध्यसागर-तट की 'बर्बर' जातियों की क़िस्म की कई जातियाँ रहती हैं। इनकी सिफ़त यह है कि इनकी औरतें छाती तथा उसके निचले भाग में गोदना गुदाया करती हैं। साथ ही एक विशेषता यह है कि औरतों को जानबूझकर ख़ूब अधिक खिलाया जाता है जिसमें वे ख़ूब मोटी हो जाएँ। मोटा होना सौन्दर्य की बड़ी निशानी समझी जाती है। इनके नाक तथा होठों में भी गहने

पहनने का रिवाज है। भूमध्यरेखा के निकट होने के कारण सूदान में कड़ी धूप पड़ती है, जिसमें झुलसते रहने के कारण इन लोगों के चमड़े बिलकुल काले हो जाते हैं। फिर भी इनके बाल जतला देते हैं कि ये निग्रो की क़िस्म के नहीं हैं। इनमें जो 'फूला' वा 'फुलानी' जाति के या उन्हीं की क़िस्म के हैं, इनके विषय में बहुत से विशेषज्ञों का अनुमान है कि ये सैकड़ों वर्ष पहले सीरिया की ओर से आये थे। इनके बाल सीधे होते हैं और होंठ पतले रहते हैं। अपने आस-पास की जातियों की तुलना में ये अधिक प्रखरबुद्धि भी होते हैं।

नूबा लोगों के एक गाँव का दृश्य

नूबा जाति के लोग मिट्टी की दीवारों पर फूस को छाकर बनाये झोंपड़ों में रहते हैं, जैसे कि चित्र में पीछे की ओर दिखाई दे रहे हैं। ये लोग तरह-तरह के जानवरों के अलावा मक्का और दुर्रा नामक अनाज पर बसर करते हैं। इस अनाज को ये लोग अपने झोंपड़ों के आगे मैदान में बनाये हुए एक तरह के ढोलनुमा बखार में भरकर सुरक्षित रखते हैं। ऐसा एक बखार चित्र में आगे की ओर दिखाई दे रहा है।

एक समय ऐसा भी था जब इस 'बर्बर' जाति का सिर्फ़ सूदान के ही पश्चिमी भाग में नहीं बल्कि सारे पश्चिमी अफ़्रीका में बहुत प्रभाव था। पिछली शताब्दी के आरम्भ में इन्हीं की जाति में ओथमन-दानफ़ोदियो नाम का एक नेता हुआ था, जिसने अफ़्रीका के इस भाग में इस्लाम का झंडा खड़ा किया था। सारे उत्तरी निगेरिया तक पर उसका क़ब्ज़ा हो गया था। जिन लोगों ने पहले-पहल इस्लाम अपनाया वे 'अमीर' तक बन गये। इन्हीं का अफ़्रीका के उस इलाक़े में आधिपत्य जम गया। पर आगे चलकर इन्होंने अपनी शक्ति का दुर्व्यवहार किया। जब विदेशी पूँजी के सहारे गुलामों का बाज़ार गरम हुआ और काले आदमियों की क़ीमत मिलने लगी, तो इन लोगों ने गुलाम पकड़ने में मदद पहुँचाई। इनके इस तरह के काम से इनके आसपास की जातियाँ इनका विरोध करने लगीं।

अंगरेज़ों ने भी अपना आधिपत्य जमने पर और जातियों की तुलना में फुलानी लोगों के हाथ में अधिक आधिपत्य रहने दिया। अपने निरीक्षण में वे कच्चा माल जुटाने में इस जाति की मदद लेने लगे। न्याय के सिलसिले में भी मुसलमानी क़ानून के ढंग पर न्याय करने का सिलसिला चलने दिया। इस कारण इनके भीतर उत्तर के अरबों की भाँति विदेशी सल्तनत के खिलाफ़ विद्रोह का भाव नहीं फैल सका।

आम तरह से इस जाति के लोग भी ख़ानाबदोशी का जीवन पसन्द करनेवाले हैं। आजीविका के लिए ये भी पशु-पालन करते हैं। योरपीय लोगों के साथ ये भी अपना सम्पर्क नहीं रखना चाहते और सभ्य समाज में इस्तेमाल में आनेवाली चीज़ों का भी जहाँ तक संभव होता है ये व्यवहार नहीं करते। जो जानवर ये पालते हैं उन्हीं की खाल इनके वस्त्र का काम देती है। स्थायी गाँव बनाकर रहने की इनकी आदत नहीं।

सूदान के अथवा उसके आसपास के देशों में बसनेवाली बर्बर, हामायत और अरब जातियों पर दृष्टि डालने पर हम यही पाते हैं कि ये अफ़्रीका की निग्रो सभ्यता से कम पर एशियाई देशों की अरब सभ्यता से अधिक मिलती-जुलती हैं। इनके अध्ययन के सिलसिले में एक बात यह भी हम देखते हैं कि जिस भूभाग की प्रकृति रूखी होती है और जहाँ मनुष्यों को जीवित रहने के लिए अनवरत संग्राम करते रहना पड़ता है, वहाँ के मनुष्य शीघ्र ही पराजय मान लेनेवाले नहीं होते। यदि कोई विदेशी ताक़त उन पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती से अपना आधिपत्य जमा भी लेती है, तो वे उस विदेशी ताक़त के ख़िलाफ़ भी हमेशा जंग छेड़े रहते हैं। दूसरी ओर जहाँ हवा में नरमी होती है, अर्थात् जहाँ जीवन-संघर्ष कठोर नहीं होता, वहाँ के लोग विदेशियों का आधिपत्य मान लेने में बहुत अधिक आनाकानी नहीं करते।
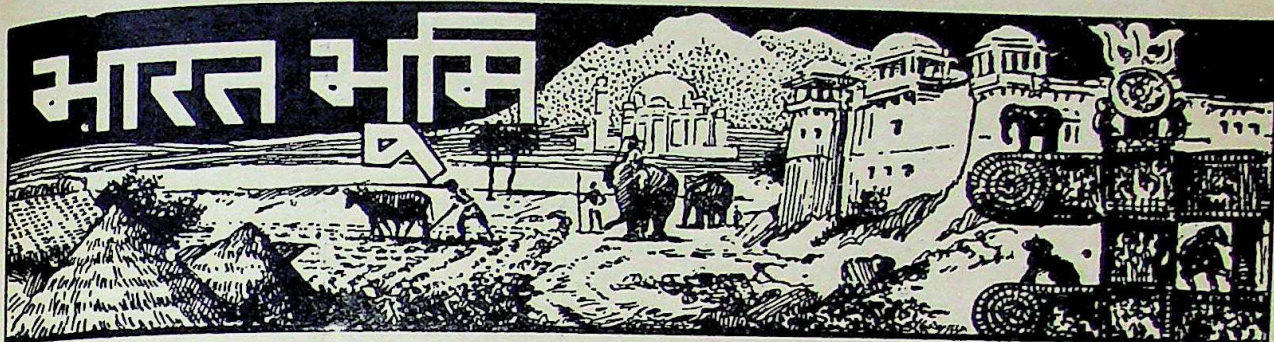
छोटा नागपुर पठार की खरिया जाति

बिहार प्रान्त की मुण्डा-भाषा-भाषी जातियों की एक शाखा

पिछले लेख में सिंघभूम ज़िले में बसनेवाली 'हो' जाति का परिचय आप पा चुके हैं। यहाँ एक और मुण्डा-भाषा-भाषी जाति का विवरण दिया जाता है, जो 'खरिया' जाति के नाम से प्रसिद्ध है।

छोटा नागपुर के पठार में रहनेवाली आदिम नस्ल के जातिवालों की कुल संख्या ४० लाख से अधिक है। अतएव, इस प्रदेश की आदिम संस्कृति की विशेषताओं का कुछ परिचय प्राप्त करने के लिए यहाँ एक अन्य जाति का वर्णन देना भी आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रदेश में रहने-वाली बड़ी जातियों में हो, खरिया, खोंद, मुण्डा, ओराँव और सन्थाल ऐसी जातियाँ हैं, जो अब तक अपने पृथक अस्तित्व और अपने पुराने संग-ठन को क़ायम रखने में समर्थ हुई हैं। पिछले लेख में मैं 'हो' जाति का परिचय आपको दे चुका हूँ, इस लेख में खरिया लोगों का कुछ हाल आपके सामने रखना चाहता हूँ, यद्यपि यह इन जातियों में संख्या की दृष्टि से सबसे छोटी है।

ढेलकी खरिया जाति का एक पुरुष
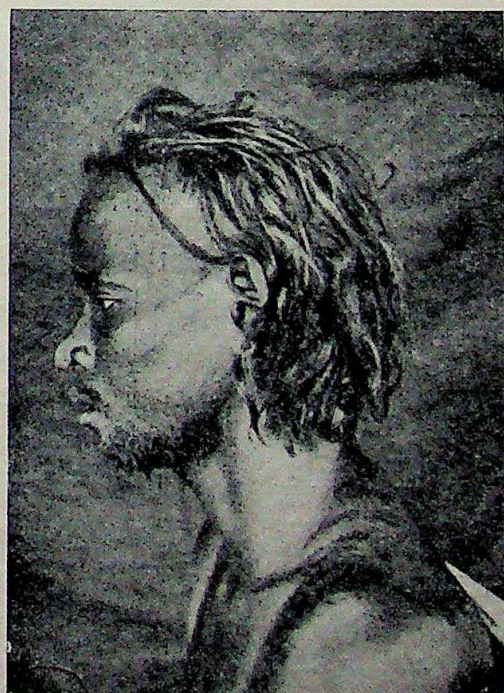
खरिया लोग उड़ीसा की जागीरदारी रियासतों की पर्वत-श्रेणियों में रहते हैं और मध्य भारत तक फैले पाये जाते हैं। यद्यपि वे छोटे-छोटे समूहों में दूर-दूर तक फैले हुए हैं, किन्तु उनका केन्द्रीय निवास-स्थान दक्षिण-पूर्व में उड़ीसा प्रान्त के मयूरभंज राज्य की मध्य पर्वत-मेखला तथा मयूरभंज के उत्तर में सिंगभूम और मानभूम ज़िलों की पहा-ड़ियों से होता हुआ बिहार के आजकल के राँची ज़िले व उड़ीसा के सम्भलपुर ज़िले की पहाड़ियों और पठार से लेकर पश्चिम में मध्यप्रान्त के बिलास-पुर, रायपुर, द्रुग और छिंद-वाँड़ा ज़िलों तक पाया जाता है। वे लोग पूर्व भारतीय एजेंसी की रियासतों अर्थात् जशपुर, राय-गढ़, सक्ती और सारंघर के राज्यों में भी पाये जाते हैं।

खरिया जाति का सबसे जंगली भाग पहाड़ी खरिया कहलाता है। ये लोग मयूर-भंज रियासत की सिमलीपाल

पर्वत-श्रेणी और छोटा नागपुर पठार के सिंगभूम और मानभूम ज़िलों की पहाड़ियों में पाये जाते हैं। खरिया लोग मुण्डा परिवार की एक भाषा बोलते हैं और नस्ल की दृष्टि से पूर्व-द्राविड़ या भारतवर्ष के ऑस्ट्रोलाइड (Austroloids) कहलाते हैं। पहाड़ी खरिया आज भी ख़ानाबदोशों की ज़िन्दगी बिताते हैं, एक जंगल से दूसरे जंगल का चक्कर लगाते रहते हैं। वे एक साथ एक या दो परिवारों से अधिक इकट्ठे नहीं चलते। अपने रहने के लिए वे वृक्षों की डालियों के झोपड़े बनाते हैं, जिनके छप्पर छाने के लिए वे पत्तों को इस्तेमाल करते हैं और रस्सी के लिए लताएँ काम में लाते हैं। वे ज़मीन पर ही सो रहते हैं और जाड़े में भी अँगरखा या चद्दर काम में नहीं लाते। लताओं के उबाले हुए कंद-मूल ही उनका परम प्रिय आहार हैं और मिल गया तो दिन में एक बार वे साथ में चावल भी खा लेते हैं। वे अब भी रगड़ से ही आग पैदा करते हैं। जब उनके कुटुम्ब की तादाद बढ़ जाती है और भोजन दुर्लभ हो जाता है, तो वे अपना डेरा हटाकर नये जंगल को चले जाते हैं।

खरिया औरतें बारीक़ चटाइयाँ बुनने में बहुत चतुर होती हैं, जिन्हें बेचकर वे बदले में खाने की चीज़ें खरीदती हैं। वे धातुशोधन की कुछ मोटी-मोटी बातों की भी जानकारी रखती हैं। अपने फावड़ों को वे आग में गर्म करके तेज़ करती हैं और लोहा गलाने के लिए पत्तियों की बनी सादी धौंकनी काम में लाती हैं। खरिया जाति के जिन लोगों ने खेती को अपनाया है, वे अब भी झूम का तरीक़ा काम में लाते हैं, जो कि बड़ी फ़िज़ूलख़र्ची का तरीक़ा है और जिसकी बदौलत छोटा नागपुर के जंगलों तथा दूसरे स्थानों का, जहाँ ऐसे जंगलों की भरमार है जो अछूते हैं, बहुत-सा हिस्सा उजाड़ हो गया है। झूम के लिए वे जंगल के किसी हिस्से के सारे पेड़ों की डालों को काटकर और टहनियों तथा ठूँठ में आग लगाकर उस हिस्से को साफ़ करते हैं और फिर उसमें खेती करते हैं। साल-दो साल तक उस हिस्से में खेती करने के बाद वे उसे छोड़ देते हैं और फिर उसी प्रकार किसी नये हिस्से को साफ़ करते हैं। पहाड़ी खरिया लोग शहद और रेशम के कोवों तथा लाख आदि जंगल की पैदावार को इकट्ठा करके, जंगल में पैदा होनेवाले कन्दमूल को अपने उस भोंड़े कुदाल से खनकर जिसे 'खनता' कहते हैं, और कभी-कभी हिरन या दूसरे छोटे जानवरों का शिकार करके बड़ी मुश्किल से अपनी जीविका का प्रबन्ध कर पाते हैं। झूम का तरीक़ा अब सरकार की ओर से अधिकांशतः बन्द करा दिया गया है, जिससे इन लोगों पर मानो विपदा का पहाड़ टूट पड़ा है। इस बात की कोशिश की गई है कि उन्हें पहाड़ को छोड़कर मैदानों में बसकर हल से खेती करने के लिए राज़ी किया जाय, लेकिन इन प्रयत्नों का कोई उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ है।

पहाड़ी खरिया लोगों के अलावा खरिया जाति की दो दूसरी शाखायें हैं, जो ढेलकी और दुध कहलाती हैं। ये लोग यों तो बहुत दूर तक फैले हुए हैं, किन्तु विशेषकर राँची ज़िले में ये केन्द्रीभूत पाये जाते हैं। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से पहाड़ी खरिया सबसे नीचे और दुध खरिया सबसे ऊपर हैं और ढेलकी लोग इन दोनों के बीच में हैं। शारीरिक बनावट में भी दुध और ढेलकी शाखायें एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं और पहाड़ी खरिया लोगों से उनमें बहुत विभिन्नता पाई जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि दुध खरिया लोग दूसरी जातियों के समूहों के साथ मिश्रित होते रहे हैं, किन्तु पहाड़ी खरिया लोग औरों से बिल्कुल अलग रहते आये हैं और उन्होंने अपनी नस्ल सम्बन्धी पवित्रता को अधिक सुरक्षित बनाये रखा है। ढेलकी की नस्ल इन दोनों के बीच की है। वे खरिया जाति के विकास की उस अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं जब कि वह पहाड़ी नस्ल से उठकर दुध नस्ल का रूप धारण कर रही थी। नस्ल सम्बन्धी विशेषताओं के साथ सांस्कृतिक विभिन्नताओं का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध कदाचित् ही देखने में आता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, खरिया जाति मुण्डा नस्ल की है। खरिया लोगों के चमड़े का रंग अगर काला नहीं तो गहरा भूरा होता है। सिर ज़रा लम्बा, नाक मोटी और चौड़ी और कभी-कभी जड़ के पास चिपटी होती है। चेहरे के कोने अपेक्षाकृत धँसे हुए होते हैं और चेहरा चौड़ा तथा भरा हुआ होता है। वे क़द के नाटे और शरीर के कुछ बेडौल-से होते हैं, पर उनके अवयव बड़े मज़बूत और गठीले होते हैं। साधारणतया वे बलिष्ठ मांसपेशियों, सुन्दर सीने, ताकतवर जबड़े और मज़बूत सफ़ेद दाँतोंवाले लोग होते हैं। मर्द लोग मामूली तौर पर घुटनों तक एक प्रकार का अँगौछा पहनते हैं जो बोतोई (Botoi) कहलाता है। यह ३ से लेकर ४॥ गज़ लम्बा होता है और इसके दोनों सिरों पर रंगीन धारियाँ होती हैं। इस कपड़े के अलावा खरिया लोग देह के ऊपरी हिस्से को ढकने के लिए भी एक तरह की चद्दर लपेट

लेते हैं। खरिया औरतें साधारणतः कमर में 'परिया' नाम का एक वस्त्र लपेटे रहती हैं, जिसका एक हिस्सा आड़े ढंग से इस तरह देह के ऊपरी हिस्से पर डाला हुआ रहता है जिससे उनके स्तन ढँके रहते हैं। भीतरी प्रदेशों में औरतें लहँगा के अलावा, जो कि कमर में पहना जाता है, और कोई भी वस्त्र नहीं धारण करतीं। खरिया औरतों को अपनी दूसरी मुण्डा बहनों की तरह अपनी देह को तरह-तरह के गहनों से सजाने का बड़ा शौक़ होता है। ये गहने साधारणतया पीतल के बने हुए होते हैं। गुदना गोदाना एक प्रकार का शृंगार समझा जाता है। ८-६ वर्ष की उम्र में ही लड़कियों का माथा सुई से गोद दिया जाता है; मत्थे पर तीन चार समानान्तर रेखाएँ बना दी जाती हैं और उनमें एक प्रकार का काला वानस्पतिक रंग भर दिया जाता है। पीठ, बाँह, हाथ और पैर भी इसी प्रकार गुदाये जाते हैं।

भौगोलिक वातावरण के साथ सामाजिक समूहों के सामंजस्य का जैसा प्रमाण पहाड़ी खरिया लोगों में पाया जाता है वैसा भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता। संसार के सभी महान आविष्कारों और खोजों का मूल कारण जीवन में किसी बड़े संकट का होना रहा है। हमेशा संकट का सामना करते और उसे वश में करने की चिन्ता करते-करते मनुष्य का मस्तिष्क अचानक कोई-न कोई ऐसा आविष्कार कर लेता है, जिससे उसे चिन्ता से छुटकारा मिल जाता है और वह संकट पर वश पा लेता है। खरिया लोगों के साथ भी यही बात घटती है। उन्हें भोजन की समस्या हमेशा सताती रही है। असभ्य जंगलियों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे पारी-पारी से फाका करते और दावतें उड़ाते हैं। जब उन्हें आहार बहुत अधिक मात्रा में मिल जाता है तो मन अच्छी तरह भर न जाय तब तक वे भोजन को पेट में ठूँसते जाते हैं और जब शिकार के लिए पशुओं का मिलना दुर्लभ हो जाता है या अन्न की पैदावार नहीं होती तो अनशन करते हैं, या कठिनाइयों के शिकार बनकर ज़िन्दगी से ही हाथ धो बैठते हैं। अपने उन भौंड़े औज़ारों और युक्तियों की सहायता से, जिन्हें उनका मस्तिष्क ईजाद कर सका है, पहाड़ी खरिया लोग कुछ अंश तक प्रकृति की शक्तियों का उपयोग इस प्रकार करने में सफल हुए हैं कि वे अपने वातावरण को अपने वश में कर सकें और उन्होंने भोजन और घर, व्यक्तिगत शृंगार और वस्त्र, आक्रमण और उससे अपनी रक्षा, तथा यातायात और विनिमय की समस्याओं को हल कर लिया है। किन्तु जंगलों पर से उनका अधिकार छिन जाने के कारण अब संकट गम्भीर हो गया है और नई परिस्थिति पर नियंत्रण पाने का सामर्थ्य होने के प्रत्यक्ष प्रमाण उनमें नहीं मिल रहे हैं। कुछ समय पहले तक जंगलों से ही उन्हें लकड़ी और लोहा मिलता रहा है, जिससे वे ज़मीन को खोदने और बोने, जानवरों और चिड़ियों का शिकार करने, मछली मारने, कातने और बुनने के औज़ार तथा घर के बर्त्तन, गहने, कंघे और सुँघनी के डिब्बे वग़ैरह बनाते रहे हैं। पेड़ों की पत्तियों और छालों से वे अपने लिए भोजन करने और पानी पीने के बर्त्तन, थालियाँ, तश्तरियाँ, प्याले वग़ैरह तथा वर्षा से बचने के लिए टोप और छाते तैयार करते हैं। पेड़ की लकड़ी, पत्तियाँ तथा शाखायें घर बनाने के काम आती हैं और जंगली बेल और लतायें उनके लिए बिस्तर, खूँटियाँ, सामान ढोनेवाले जालों, तथा भोजन के हेतु फल और कन्दमूल की खोज में पहाड़ पर जाने के लिए रस्सीदार सीढ़ियों का काम देती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि खरिया जाति की भौतिक संस्कृति, जिस रूप में आज वह हमारे सामने है, युगों से चले आनेवाले प्रयोग, भूल और अनुभव के क्रम का परिणाम है, जिसके कि फलस्वरूप ऐसे कई तरीक़े ख़ुद ईजाद करके और कुछ दूसरों लोगों से सीखकर, जिनसे वे अपने प्राकृतिक वातावरण पर

पहाड़ी खरिया जाति के मर्द शिकार के लिए जा रहे हैं

अपनी सामर्थ्य के अनुसार नियंत्रण प्राप्त कर सके हैं, उन्होंने अपनी भोजन की समस्या को मोटे तौर पर हल कर लिया है।

पहाड़ी खरिया लोगों के गाँव का दर्शन करना कठिन है, क्योंकि जहाँ तक पता चलता है उन लोगों के गाँव होते ही नहीं। वे लोग पेड़ों की डालियों और पत्तों की अस्थायी झोपड़ियाँ बनाकर तीन या चार परिवारों के समूह में रहते हैं और ये झोपड़ियाँ बहुत दूरी में फैली हुई होती हैं, जिससे सौ गज़ के फ़ासले के भीतर भी दो परिवार नहीं पाये जा सकते। खरिया जाति की दूसरी शाखायें, दुध और ढेलकी, गाँवों में रहती हैं, लेकिन उनके गाँव भी उस तरह के बाक़ायदा बने हुए नहीं होते जैसे कि दूसरी आदिम जातियों में पाये जाते हैं। यद्यपि खरिया लोग मकान बहुत कम ही बनाते हैं और कामचलाऊ झोपड़ों में ही रहते हैं, किन्तु मेहमानों के साथ उनका व्यवहार बहुत उदारतापूर्ण होता है। सभी मेहमानों को गाँव के एक सिरे पर स्थित 'गीती ओ' नाम के एक बड़े घर में ठहराया जाता है, जो अविवाहितों का शयनकक्ष होता है। इस घर की बनावट समूह की छोटाई-बड़ाई पर निर्भर रहती है और यह छोटे झोपड़े से लेकर ऐसे बड़े शानदार और कलापूर्ण गृह के रूप में बनाया जाता है जिसके बीचोबीच छत को सँभालने के लिए एक खम्भा लगाया हुआ होता है। खरिया लोग दूसरी आदिम जातियों की तरह जंगल में मिलनेवाली सभी तरह की चीज़ें खाते हैं और उनके भोजन में जानवरों के मांस और पेड़-पौधों के फलादि की नाना प्रकार की वस्तुयें होती हैं। उन लोगों ने बूटियों द्वारा चिकित्सा की बड़ी विस्तृत विधियाँ बना रखी हैं और कई जंगली फल तथा उनके बीज भोजन के अकाल के समय उनका काम चलाते हैं। गोमांस को छोड़कर वे बिना ज़हरवाले किसी भी जानवर का मांस खा लेते हैं, लेकिन कुछ दिनों से वे सुअर, बन्दर और भेंड़ के गोश्त से भी नफ़रत करने लगे हैं। 'भारतवर्ष का जंगली जीवन' (Jungle Life in India) नामक अपनी पुस्तक में वी० बाल (V. Ball) ने एक स्थल पर वर्णन किया है कि किस प्रकार उन्होंने एक पहाड़ी खरिया औरत को अपने परिवार के सदस्यों को सुबह के भोजन के लिए साल के पत्तों से बनाये हुए पत्तल पर एक छोटे जानवर की आँत को परसते हुए देखा था और किस प्रकार सबको परस चुकने के बाद उस स्त्री ने अपने हिस्से के मांस को दो पत्तियों के बीच में लपेटकर भूनने के लिए आग में डाल दिया था। जहाँ तक मदिरा का सम्बन्ध है, छोटा नागपुर पठार की दूसरी मुण्डा-भाषी जातियों की तरह खरिया लोगों को भी चावल से बनाई हुई 'गोलंग' को पीने का बड़ा शौक़ होता है और वे अपने भाग्य का संचालन करनेवाले देवी-देवताओं वग़ैरह को भी यही शराब भेंट में चढ़ाते हैं।

खरिया समाज पितृमूलक होता है, यद्यपि मातृमूलक संगठन के चिह्न भी उसमें पाये जाते हैं। पिता परिवार का मुखिया होता है और उसका कर्त्तव्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी स्त्री तथा बालबच्चों का भरण-पोषण करना होता है। खरिया जाति ने स्त्री-पुरुष में काम का बँटवारा बहुत अच्छी तरह किया है। स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग धन्धे बाँध दिये गये हैं। प्रकृति और समाज ने मिलकर खरिया स्त्रियों को उन कार्यों से वंचित कर रक्खा है, जो दूसरी जातियों में कोई भी व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—कर सकता है। इनमें ऐसे अनगिनती काम हैं जिनके बारे में यह विश्वास प्रचलित है कि उन्हें सिर्फ़ पुरुष या स्त्री को ही करना चाहिए। इन विश्वासों ने स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के कार्य-क्षेत्र से इस तरह अलग कर रक्खा है कि बड़ी कट्टरतापूर्वक वे एक दूसरे को अपने कामों में दख़ल देने से रोके रखते हैं। उदाहरण-स्वरूप, खरिया लोगों में हल जोतना पुरुषों का कार्य है और हल चलते वक्त किसी स्त्री को उसे छूने या नज़दीक तक आने नहीं दिया जाता। ओराँव और अन्य कई जाति के लोगों में हल को स्त्रियों के स्पर्श से अपवित्र करने की सख्त मुमानियत है और गाँव के सभी हल गाँव से दूर एक निश्चित स्थान पर रख दिये जाते हैं ताकि भूल से भी कोई स्त्री उनसे छू न जाय। अगर एक क्षण के लिए भी कोई स्त्री हल को चलाये तो सारा गाँव इस डर से काँप उठेगा कि परिणामस्वरूप कहीं सूखा या अकाल न पड़ जाय। ऐसी अवस्था में गाँव में "रोग खेदना" नामक क्रिया की जाती है। "रोग खेदना" का अर्थ 'रोग-निवारण' या 'विपत्ति-निवारण' होता है। खरिया जाति में उपर्युक्त अपराध करनेवाली स्त्री को अपने पाप का प्रायश्चित्त जिस हल को वह छू लेती है उस हल में जुतकर कुछ धरती जोतकर करना होता है। कुछ गाँवों में ऐसी स्त्री को थोड़ी-सी घास भी खानी पड़ती है तथा गाँव में घूमकर भीख माँगनी पड़ती है ताकि भीख माँगकर इकट्ठी की गई सामग्री से वह एक दावत दे सके जिसके बिना गाँव के बड़े-बूढ़े उसे जाति में फिर लेने से इनकार कर सकते हैं। ऐसी स्त्री का शुद्धि-संस्कार गोलंग (एक तरह की देशी शराब) का एक चम्मच ... किया जाता है। इस

प्याले में खरिया जाति के देवता पोनोमोसोर के नाम पर बलि की हुई एक मुर्ग़ी के ख़ून की कुछ बूँदें भी मिली रहती हैं।

स्त्री-पुरुष के कार्य-विभाजन के सम्बन्ध में इतनी कड़ाई होने पर भी खरिया स्त्री का पद समाज में बहुत सम्मानपूर्ण होता है और परिवार तथा पति पर उसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। यद्यपि मुण्डा जाति की शाखाएँ जानवरों तथा पौधों के नाम से पुकारे जानेवाले अनेक क़बीलों में बँटी हुई हैं, परन्तु खरिया जाति के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि उसके जंगली-से-जंगली लोगों ने भी अपना आरम्भिक क़बीलोंवाला संगठन खो दिया है।

विवाह एक ही गाँव तथा एक ही गोत्र या क़बीले में होते हैं अतएव उनमें बहिर्गोत्रीय विवाह करनेवाले क़बीले हैं ही नहीं। उनमें कुछ तरह के विवाहों का निषेध है। उदाहरणस्वरूप, एक ही रक्त के सम्बन्धियों में विवाह नहीं होता। चचेरे भाई-बहनों में या पिता के चचेरे भाइयों की संतानों से ब्याह नहीं होता। परन्तु भाई और बहन की संतानों में ब्याह-सम्बन्ध हो सकता है। खरिया जाति का पुरुष अपनी सगी साली से और अपने भाई की साली से ब्याह कर सकता है। खरिया जाति की विधवा स्त्री अपने देवर या अपने बहनोई के भाई से ब्याह कर सकती है।

ढेलकी खरिया जाति की स्त्री और उसके बच्चे
पीछे इनकी कुटिया है।

विवाह हमेशा युवावस्था प्राप्त होने पर होता है। खरिया जाति में प्रणय द्वारा, घर से भगाकर तथा अन्य तरीक़ों से भी विवाह-सम्बन्ध होते हैं, परन्तु प्रचलित तरीक़ा मूल्य चुकाकर ब्याह करना है। विवाह करनेवाले वर-वधू के माता-पिता अथवा संरक्षक होते हैं। इनकी विवाह-विधि बहुत ही सरल है। एक मध्यस्थ को, जिसे डँडिया कहा जाता है, विवाह-सम्बन्धी बातें तय करने का भार सौंपा जाता है और जब दोनों पक्ष सब बातें तय कर लेते हैं, तो विवाह की एक तिथि निश्चित हो जाती है। अधिकतर विवाह माघ (जनवरी-फ़रवरी) के महीने में होते हैं, यद्यपि कुछ लोग फाल्गुन में भी विवाह करते हैं। विवाह के लिए सोमवार, मंगलवार, बुधवार और शुक्रवार ही शुभ वार समझे जाते हैं, यद्यपि खरिया लोग स्वयं नहीं जानते कि दूसरे दिन विवाह के लिए शुभ क्यों नहीं हैं। वधू की क़ीमत काफ़ी ऊँची रहती है और इसलिए विवाह-संस्कार तब तक स्थगित रक्खा जाता है जब तक कि वर विवाह के उपयुक्त साधन नहीं जुटा पाता। दूसरा उपाय यह है कि मनचाही लड़की को भगा लिया जाय या किसी भीड़ के सामने बाज़ार में अथवा भरी सड़क पर युवक अपनी प्रेमिका के मत्थे पर ज़बर्दस्ती सिन्दूर लगा दे। युवती के मस्तक पर सिन्दूर लगाना उससे ब्याह करने के बराबर होता है, क्योंकि यह विवाह-संस्कार की सबसे महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण क्रिया है। ढेलकी खरिया लोगों की सगाई की रस्म दूसरे खरिया लोगों में प्रचलित सगाई की रस्म से ज़रा भिन्न होती है। इनमें जब वरपक्ष के लोग वधू के गाँव में आते हैं, तो वधूपक्ष के लोग उनको खिलाते-पिलाते, उनके पैर धोते, दाबते तथा उनके शरीर में तेल मलते हैं और उनको पीने के लिए काफ़ी मात्रा में शराब देते हैं। तदुपरान्त दूल्हे के रिश्तेदार वधू के पिता और रिश्तेदारों के पैरों में तेल लगाते और उनको दाबते हैं। इसके बाद लड़की का पिता एक मंच पर चढ़कर यह घोषणा करता है—"आप सब लोग सुनें, आज से मैंने अपनी लड़की कुटुम्ब के बन्धुओं (वर पक्ष के सम्बन्धियों) को दे दी है। आगे चलकर उसका जीवन कैसा होगा यह न तो वह जानती है और न मैं। आज वह स्वस्थ और प्रसन्न है। बाद को वह अन्धी या लँगड़ी हो जाय, कौन जानता है। जो कोई यहाँ है सब सुन लें, मैंने अपनी लड़की इनको दे दी है।" सभी एकत्रित लोग एक स्वर से बोलते हैं—"हम पंचों ने आपकी बात सुन ली।" इस सगाई के संस्कार के बाद विवाह होता है; परन्तु यह ज़रूरी नहीं है कि विवाह एक या दो महीने के अन्दर-अन्दर हो ही जाय। दो या तीन वर्ष बाद भी विवाह

हो सकता है। वधू की क़ीमत तय करने का एक बड़ा मनोरंजक तरीक़ा है। गाँव के स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं और वधू के पिता और उसके रिश्तेदार बीच में बैठते हैं। वर के पिता के संकेत पर कई लड़के-लड़कियाँ ढोरों की भाँति हाथ-पैर के बल चलते हुए भीड़ में पहुँचते हैं। पहुँचकर वे ढोरों की नक़ल करते हुए चरना या रंभाना शुरू कर देते हैं। तब वधू का पिता या उसके बदले और कोई उनमें से जितने को पकड़ सके पकड़ने की कोशिश करता है और जितने को वह पकड़ पाता है उतने ही ढोर वर के पिता को देने पड़ते हैं। इसके बाद कुछ और लड़के-लड़कियाँ भेड़-बकरियों की तरह चलते हुए आते हैं। इनसे कितनी भेड़ें और बकरियाँ दी जायँ इसका निश्चय होता है। वधू के पिता या उसके किसी प्रतिनिधि को इन मनुष्य-रूपी भेड़ और बकरियों को पकड़ना पड़ता है और इस तरह वधू की क़ीमत बिना झगड़े के तय हो जाती है। प्रायः विवाह तय करनेवाला मध्यस्थ वधू की क़ीमत पहले ही तय कर लेता है और उपर्युक्त नाटकीय दृश्य केवल तमाशे के लिए किया जाता है। पति-पत्नी के बीच पूर्ण सहयोग के लिए खरिया लोग बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि उनमें ऐसे पति बहुत हैं, जिन पर पत्नी का पूर्ण आधिपत्य रहता है और तलाक़ के मामले विरले ही पाये जाते हैं। बच्चों की बड़ी ख़बरदारी रक्खी जाती है। दम्पति के बच्चे न रहने पर तलाक़ हो भी सकता है, परन्तु बच्चे हो जाने पर तलाक़ असम्भव ही होता है। यद्यपि खरिया लोगों के बच्चे छोटी अवस्था में ही अपना अधिकांश काम सीख लेते हैं तो भी उनको अपनी जीविका के लिए कठिन परिश्रम नहीं करने दिया जाता। दस वर्ष की आयु से लेकर विवाह की अवस्था तक उनका जीवन बड़ा सुखमय और सुगम होता है। जब तक उनके माता-पिता जीवित रहते हैं, वे अपने खाने-पीने और रहने के लिए चिन्ता नहीं करते। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद ही उनको कठोर परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। उनमें ऐसे सैकड़ों गीत प्रचलित हैं, जिनमें माता-पिता की मृत्यु के लिए शोक प्रकट करते हुए उस समृद्ध घर की बड़े अभिमान के साथ प्रशंसा की जाती है, जहाँ माता-पिता अपनी संतान की ज़रूरतों को बिना उनसे कुछ काम कराये पूरा किया करते हैं। हो और मुण्डा लोगों की तरह खरिया-युवक वर्त्तमान का ही ख़याल करता है, 'कल' की चिन्ता नहीं करता। हो युवक यह गीत गाता है—

(बाईं ओर) एक पहाड़ी खरिया पुरुष; (दाहिनी ओर) एक दुध खरिया जाति का पुरुष। दोनों के चेहरों की असमानता स्पष्ट है।

"प्यारे, हमें चाहिए कि हम प्रसन्न रहें,
जब तक यह जीवन है, तब तक प्रसन्न रहें।
ऐसा आनन्द फिर हमें न मिलेगा,
न हम हमेशा जीवित ही रहेंगे, प्यारे!
पृथ्वी की तरह हम अमर नहीं हैं, और न वृक्षों की पत्तियों की तरह हममें नवीन कोंपलें ही फूट सकती हैं।"

खरिया युवक में भी यही भावना उसकी बोल-चाल की भाषा के गीतों में पाई जाती है।

महर्षि व्यास

व्यास भारतीय ज्ञान-गंगा के भगीरथ हैं। जिस प्रकार इस देवनिर्मित देश को किसी पुरा-युग में भगीरथ ने अपने उग्र तप से गंगावतरण के द्वारा पवित्र किया था, उसी प्रकार पुराण मुनि वेद-व्यास ने भारतीय लोक-साहित्य के आदि युग में हिमालय के बदरिकाश्रम में अखंड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्म-नीति और पुराण की त्रिपथगा गंगा का पहले अपनी आत्मा में साक्षात्कार किया और फिर साहित्यिक साधना के द्वारा देश के आर्य वाङ्मय को उससे पवित्र बनाया। ज्ञानरूपी हिमवान् के उच्च शिखरों पर बहनेवाले दिव्य जलों को मानों वेद-व्यास भूतल पर ले आए। उन्होंने लोक-साहित्य को वेग की प्रेरणा दी। उनके द्वारा पूर्वजों के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ में आ विराजी।

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेद-व्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देश-व्यापी जीवन में अनन्त बनकर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यास रूपी महान् वट-वृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गए हैं। यदि भारतीय ज्ञान की उपमा एक ऐसे रत्न से दी जाय जिसकी चमक के सहस्रों पहलू हों, तो व्यास की शत-साहस्री संहिता पूरी तरह से उस महार्घ मणि का स्थान ले सकती है। जैसे भगवान् समुद्र और हिमवान् गिरि दोनों रत्नों की खान हैं, वैसे ही 'भारत' भी रत्नों से सम्पूर्ण है।* व्यास की प्रतिभा की स्तुति में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था—

> धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
> यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥
> (आदिपर्व ५६।३३)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक जीवन के चार पुरुषार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है; जो यहाँ नहीं है वह कहीं और भी न मिलेगा।

जीवन-चरित

पुराविदों के प्रयत्न करने पर भी व्यास हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम के शिकंजे में पूरी तरह नहीं बाँधे जा सके। विक्रम से तीस शताब्दी पूर्व से लेकर पन्द्रह शताब्दी पूर्व तक के किसी युग में हमारे व्यास का उदय हुआ। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक अट्ठाइस व्यासों की परम्परा मिलती है। ये मुख्यतः पुराणों के प्रवचनकर्त्ता रहे होंगे। पर जब तक सब पुराणों के सुसमीक्षित संस्करण तैयार न हो जायँ तब तक इस अनुश्रुति का पूरा मूल्य नहीं आँका जा सकता। हाँ, जय नामक उत्तम इतिहास के रचनेवाले अमितौजा महामुनि व्यास, जिनका नाम अट्ठाइस व्यासों के अन्त में आता है, अवश्य ही हमारे चिरपरिचित वे पुराण मुनि हैं जो कुरु-पाण्डव युग में इस पृथिवी पर बदरिकाश्रम और हस्तिनापुर के बीच में आते-जाते थे। हिमालय के रम्य शिखर पर जहाँ नर-नारायण नामक दो पर्वत हैं, वहाँ भागीरथी के समीप विशाला बदरी नामक स्थान में व्यास ने अपना आश्रम बनाया था। आज भी बदरीनारायण के इस प्रदेश के दर्शन के लिए प्रति वर्ष सहस्रों यात्री जाते हैं। विशाला बदरी के समीप ही आकाशगंगा है जहाँ व्यास का चक्रमण (घूमने का) स्थान था। यह स्थान हरद्वार

* यथा समुद्रो भगवान्यथा हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥
(आदिपर्व ५६।२७, सुक्थणकर संस्करण)

से लगभग एक मास की पैदल यात्रा के बाद आता था। उसी हिमवत् पृष्ठ पर व्यास का आश्रम था, जिसके कण-कण में दिव्य तप की भावना ओत-प्रोत थी। वहाँ व्यास ने चार प्रमुख शिष्यों को वैदिक संहिताओं का अध्ययन कराया। पैल ने ऋग्वेद, वैशम्पायन ने यजुर्वेद, जैमिनि ने सामवेद और सुमन्तु ने अथर्ववेद की संहिताओं का पारायण किया। कहा जाता है कि व्यास ने स्वयं अत्यधिक परिश्रम से समस्त वैदिक मंत्रों का वर्गीकरण करके चार संहिताओं का विभाग किया, और इस साहित्यिक साधना के कारण ही उनका नाम वेद-व्यास प्रसिद्ध हुआ।* इसी आश्रम में कुरु-पांडवों के युद्ध की समाप्ति पर व्यासजी ने तीन वर्ष के संतत उत्थान के बाद महाभारत नामक श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास की रचना की—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥
(आदि पर्व ५६।३२)

यह महाभारत पाँचवाँ वेद कहलाता है और इसे व्यास ने अपने पाँचवें शिष्य रोमहर्षण को पढ़ाया था। इसका एक नाम कार्ष्ण वेद भी है। वस्तुतः व्यास का जन्म-नाम कृष्ण था। महाभारत की राजनीति के युग में दो कृष्ण प्रसिद्ध हुए, एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यमुना नदी के एक द्वीप में जन्म होने के कारण ये द्वैपायन कहलाए। चेदि देश के राजा वसु उपरिचर के वीर्य से हस्तिनापुर के पास, जहाँ एक टापू था, सत्यवती का जन्म हुआ। जन्मकाल से ही यमुनातीर-वासी दाशराज ने उसका पालन-पोषण किया था। सत्यवती नामक यह कन्या यमुना के पार नाव चलाती हुई प्रथम यौवन के समय योगी पराशर मुनि के संयोग से व्यास की माता बनी। इसी सत्यवती के साथ आगे चलकर राजा शन्तनु ने विवाह किया। व्यास की माता सत्यवती गंगापुत्र भीष्म की सौतेली माँ थी, अतएव व्यास और पितामह भीष्म का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का था। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य निस्सन्तान ही मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके बाद जब कुरुकुल अनपत्यता के कारण डूबने लगा, तब अपनी माता सत्यवती के कहने को मानकर व्यास ने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक दो पुत्रों को उत्पन्न किया। इसी अवसर पर एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। आम्बिकेय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव और कौशल्यानन्दन पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिरादि पंच पांडव हुए। व्यासजी ही इस वंश के बीज वपन करनेवाले थे। अतएव जन्म-पर्यन्त हस्तिनापुर के राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। पुत्रों के जन्म के बाद व्यास ने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के किनारे भी एक आश्रम बना लिया था। वहाँ से वे हस्तिनापुर आते रहते थे। जिस समय पाण्डु की मृत्यु के बाद पाण्डव हस्तिनापुर आए और पाण्डु का दाह-संस्कार हुआ, उस समय व्यास वहाँ मौजूद थे। व्यास ने माता सत्यवती को सलाह दी कि अब तुम हस्तिनापुर छोड़कर वन में जाकर योग में चित्त लगाओ। कौरव-पाण्डवों की अस्त्र-परीक्षा के समय भी व्यास हस्तिनापुर में थे। उन्होंने वनवास के समय एकचक्रा नगरी में पाण्डवों से भेंट करके उन्हें द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित होने की सलाह दी। व्यासजी का अमोघ मंत्र गाढ़े वक़्त में सदा पांडवों के साथ रहा। व्याह के पश्चात् जब पांडवों को राज मिला तब भी राजसूय यज्ञ की सूझ व्यासजी से ही उनको प्राप्त हुई। इस यज्ञ में आपसी डाह के ऐसे बानक बने जिनसे आगे युद्ध अवश्यम्भावी जँचने लगा। व्यासजी युधिष्ठिर को क्षत्रियों के भावी विनाश की सूचना देकर स्वयं कैलाश पर्वत की यात्रा को चले गए।* इधर पांडवों ने जुए में हारकर फिर वन की राह ली। व्यासजी को जब यह समाचार मालूम हुआ तब उन्होंने आकर धृतराष्ट्र को समझाया कि पाण्डवों के साथ न्याय करें, और स्वयं द्वैतवन में जाकर पाण्डवों से मिले। वहाँ उन्होंने युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नामक सिद्ध विद्या दी और उन्हें दूसरी जगह जाकर रहने की सम्मति दी। पाण्डव द्वैतवन को छोड़कर सरस्वती के किनारे काम्यकवन में रहने लगे। उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो रहे थे। व्यासजी फिर उनके पास पहुँचे और युधिष्ठिर को नीतिमार्ग और आत्मसंयम के धर्म का उपदेश देकर अपने आश्रम को चले गए। तेरहवें वर्ष के बाद जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस माँगा तब व्यास ने फिर धृतराष्ट्र को समझाया। परन्तु काल के सामने बूढ़े और अन्धे राजा धृतराष्ट्र तथा मनीषी वेद-व्यास का एक भी उपाय सफल

* यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च ॥
(आदि पर्व ६६।१५)

* स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥
(सभापर्व ४६।१७)

न हुआ। व्यास अपने ज्ञान-चक्षु से काल की महिमा को जानते थे। काल की दुर्धर्ष सत्ता में विश्वास उनके दर्शन का अभिन्न अंग था जिसे उन्होंने कई जगह महाभारत में प्रकट किया है—

> कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय।
> काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
> स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः॥
> (मौसल पर्व ८।३३।३४)

काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वश में करके उसे हड़प लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। समन्तपञ्चक के सर्व क्षत्रियों का क्षय करनेवाले युद्ध को अपनी आँखों से देखकर वेद-व्यास ने काल की महिमा के ध्यान से ही अपने चित्त को धैर्य दिया। जिस समय कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से भारतीय सेनाएँ आ डटीं तब भी व्यासजी ने धृतराष्ट्र को समझाकर युद्ध रोकना चाहा। पर उनकी एक न चली। युद्ध के दिनों में भी वह जब-तब अपने मंत्र से स्थिति को सँभालते रहे और युद्ध के अन्त में शोकमना धृतराष्ट्र को और युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर धैर्य बँधाया। युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार करके नीति, धर्म और अध्यात्म की शिक्षा के लिए भीष्म के पास भेजा और अश्वमेध करने की प्रेरणा की। युद्ध के सोलह वर्ष बाद वह धृतराष्ट्र से फिर हिमालय में जाकर मिले और तप करने की सलाह देकर अपने आश्रम को चले गए। जब सरस्वती नदी के तीर पर बसनेवाले आभीर गणों (हरियाने के दस्युओं) ने वृष्णि वंश की स्त्रियों को अर्जुन के देखते-देखते लूट लिया, तब शोक और अपमान से भग्न-हृदय अर्जुन अन्तिम बार व्यास के दर्शन को गए। व्यास ने उन्हें कालचक्र के उत्थान और पतन का उपदेश देकर विदा किया। घटनाओं के झंझावात में भी क्षोभरहित स्थिति के प्रतीक वेद-व्यास हैं।

ग्रन्थ-परिचय

व्यास को वेदान्तसूत्रों का कर्त्ता भी माना जाता है। वेदान्तसूत्रों का नाम भिक्षुसूत्र भी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है कि भिक्षुसूत्र के रचयिता पाराशर्य थे। पराशर के पुत्र होने के कारण व्यास का ही एक नाम पाराशर्य था। बदरी आश्रम में रहने के कारण व्यास का दूसरा नाम बादरायण मुनि भी था और इसी कारण कभी-कभी वेदान्तसूत्रों को बादरायणसूत्र भी कहते हैं। पाणिनि के शास्त्र में जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है उसको प्रामाणिक मानते हुए यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हेतु है कि वेदान्तसूत्रों की रचना वेद-व्यास ने ही की हो। वेदान्तसूत्र उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का निचोड़ है। कहा जाता है कि वेद-व्यास ने अपने पुत्र शुक को मोक्षशास्त्र का अध्ययन कराया। सम्भव है, बादरायण सूत्रों की रचना में यही हेतु रहा हो।

परन्तु जो ग्रन्थराट् व्यास की कीर्ति का शुभ्र जयस्तम्भ है वह महाभारत है। महाभारत में व्यास ने अपनी अमित बुद्धि से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र को भारतीय कथा के साथ-साथ बड़े सुन्दर ढंग से सजाकर सदा के लिए आर्य जाति के विस्तृत ज्ञान और लौकिक जीवन का रूप खड़ा कर दिया है—

> अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
> मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥
> (आदिपर्व ५६।२१)

महाभारत सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतवर्ष का विश्व-कोष है। संसार के साहित्य में महाभारत एक दिग्गज ग्रन्थ है। इसकी तुलना में यूनान के इलियड और ओडेसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडिनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा, जिनमें उत्तराखंड का बचा-खुचा गाथा-शास्त्र* सुरक्षित है, बहुत पीछे छूट जाते हैं। महाभारत जहाँ एक ओर प्राचीन नीति और धर्म का अक्षय भंडार है, वहीं दूसरी ओर इसमें भारतीय गाथाशास्त्र की भी अनन्त सामग्री है। महाभारत को वेद-व्यास ने अतीत की घटनाओं के नीरस क्रोड़पत्र के रूप में नहीं रचा, अन्यथा वह अब से कहीं पहले अन्य देशों के भारी भरकम ऐतिहासिक पोथों की तरह धूलि-धूसरित हो गया होता। महाभारत एक जीते-जागते चित्रपट के रूप में सदा हमारे सामने रहा है, जिसके अर्थ का व्याख्यान अनगिन्त सूत अपने-अपने आसन से करते रहे हैं। आज भी व्यास-गद्दी का उत्तराधिकार भारत के अपने साहित्यिक जगत् में अक्षुरण बना हुआ है। आकाश में उड़नेवाले ज्ञान को पृथिवी के मानव की पहुँच में किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान भारतवर्षीय व्यास-गद्दी है। पश्चिम को यह शिकायत है कि उसका नया ज्ञान विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर लोक से दूर जा पड़ा है। जीवन-मरण एवं सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में जो विज्ञान के संशोधन हैं उनको जन-साधारण के जीवन में ढालने के साधन का विज्ञान के पास अभाव है। परन्तु

*Nordic Mythology.

भारतवर्ष में सार्वजनिक शिक्षा के चमत्कारी विधानों में व्यास-गद्दी से कही जानेवाली कथाओं के द्वारा विशेषज्ञ और लोक के बीच की खाई पर पुल बनाने का सफल प्रयास होता आया है। इसी कारण रामायण, महाभारत और पुराणों के महान् चरित्रों की अमर कथाएँ देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं। अपने पूर्वपुरुषाओं के चरित्रों को सुनने की जो हमारे मन में स्वाभाविक उमंग है, वही हमारा सबसे उत्कट इतिहास-प्रेम है। जनमेजय के शब्दों में हम कह सकते हैं—

नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्।
(आदि० ५६।३)

'पूर्वपुरुषों के महान् चरित्र को सुनते-सुनते मैं कभी तृप्त नहीं होता।' उस स्वाभाविक कौतुक को तृप्त करने का राष्ट्रीय साधन महाभारत ग्रन्थ था। पराक्रमी द्रोण, भीष्म, अर्जुन, भीम, कर्ण और दुर्योधन के महावीर्य भुजदंडों की शक्ति के जिस ओज को वेद-व्यास ने अपने श्लोकों में भरा है, उससे अब भी हमारा वीर हृदय उछलने लगता है।

भारत—महाभारत

महाभारत को शत-साहस्री संहिता कहा गया है। हरिवंश को मिलाकर महाभारत के १८ पर्वों में एक लाख श्लोक होने का अनुमान किया जाता है। पर यह निश्चय है कि वेद-व्यास के समय में इस ग्रन्थ का यह बृहत् रूप न था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र (६।२।३८) में महाभारत नाम आता है। उससे पहले आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों का एक ही वाक्य में अलग-अलग उल्लेख है। वास्तविक कुरु-पाण्डवों का वीर-गाथा ग्रन्थ भारत ही था, जिसमें चौबीस हज़ार श्लोक थे और इस कारण जिसका नाम 'चतुर्विंशति साहस्री भारत संहिता' प्रसिद्ध था। इसकी अन्तःसाक्षी स्वयं महाभारत में मौजूद है—

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
(आदि० १।६१)

व्यास का मूल भारत बिना उपाख्यानों के था पर वर्तमान ग्रन्थ में सैकड़ों उपाख्यान यथास्थान पिरो दिये गए हैं। व्यास ने तीन वर्ष के संतत परिश्रम (उत्थान) से २४००० श्लोकों में भरतवंश के इतिहास और युद्ध का मूल काव्य रचा। उसको रोमहर्षण सूत ने यथावत् पढ़ा। पुनः व्यास-शिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के यज्ञ में उसका पारायण किया। इस समय तक ग्रन्थ का रूप शुद्ध बना रहा। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गव-वंशी कुलपति शौनक के बारह वर्षों के यज्ञ में देखने में आता है। यहाँ वक्ता और श्रोता दोनों नैमिषारण्य की सघन छाया में शान्ति के साथ पर्याप्त अवकाश लेकर बैठे थे। इस समय भारत का उपबृंहण महाभारत के रूप में हो चुका था, चतुर्विंशति साहस्रीं संहिता बढ़कर शतसाहस्री बन गई थी। उसमें ययाति* और परशुराम-जैसे बड़े-बड़े उपाख्यान स्वच्छन्दता से मिला लिये गए। बहुत-सी कथाएँ, जिन्हें हम बौद्ध जातकों तक में पाते हैं, लोक की चलती-फिरती सम्पत्ति थीं, वे भी महाभारत में मिला ली गईं। अनुशासन पर्व की पुष्करहरण की कथा (अ० ९३-९४) और बिसजातक (सं० ४८८) एक ही हैं। अनागत विधाता आदि तीन मछलियों की कहानी या राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की बाल-कहानियाँ भी महाभारत के भीतर आ गईं। इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु, सूर्य, देवी और गणपति की बढ़ती हुई भक्ति के आवेश में सम्प्रदायविदों ने महाभारत को अपनी कृपा का लक्ष्य बनाया। परन्तु इन सबसे बढ़कर अध्यात्म, धर्म और नीति के अनेक संवाद महाभारत में समय-समय पर मिलते गये। इन सब सम्मिश्रणों के कारण मूल ग्रन्थ का कायापलट हो गया। कुछ समय तक तो भारत और महाभारत का अस्तित्व अलग-अलग पहचानने में आता रहा, परन्तु जैसा स्वाभाविक था, आगे चलकर केवल महाभारत ही आर्य संस्कृति के सबसे महान् ज्ञान-विज्ञान-कोष के रूप में रह गया।

पूना-संस्करण

प्रश्न यह है कि क्या फिर मूल भारत ग्रन्थ को महाभारत में से अलग किया जा सकता है? क्या यह सम्भव है कि महाभारत के भीतर कालक्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहों को फिर से उलटकर हम कुछ उस पर्दे को हटा सकें जिसके पीछे नवीन ने प्राचीन भाग को छिपा रक्खा है? यह प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पाण्डित्य की कसौटी है। हर्ष की बात है कि यह भगीरथ कार्य पूना के 'भांडारकर प्राच्य विद्या इन्स्टीट्यूट' की तरफ़ से आज लगभग बीस वर्षों से हो रहा है। महाभारत के इस संस्करण में जहाँ तक मानवी बुद्धि और परिश्रम के लिए सम्भव है, वहाँ तक महाभारत के उस मूल रूप का, जिसका पारायण उग्रश्रवा सूत ने शौनक के सत्र में किया था, उद्धार करने

* व्याकरण साहित्य में इन उपाख्यानों का उल्लेख 'यायात' 'आधिराम' नामों से किया गया है। (काशिका सूत्र ६।२।१०३)

का प्रयत्न किया गया है। डा० सुक्ठणकर इस कार्य के प्राण हैं। उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा से कुछ-कुछ यह भी प्रयत्न किया है कि हम शौनक के संस्करण से भी पूर्व में हुए परिवर्धनों को अलग पहचान सकें। इस दिशा में उनका 'भृगु और भारत'* शीर्षक बृहत् निबन्ध स्तुत्य है। उससे यह ज्ञात होता है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादन के फलस्वरूप शताब्दियों में भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। भरतवंश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गववंश की कथा के लिए प्रकट होती है—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

भार्गव शौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रन्थ पर पड़े हुए भार्गव प्रभाव का द्योतक मात्र है। और्वोपाख्यान (आदि), कार्तवीर्योपाख्यान (वन), अम्ब्रोपाख्यान (उद्योग), विपुलोपाख्यान (शान्ति), उत्तंकोपाख्यान (अश्वमेध) का सम्बन्ध भार्गवों से है। आदि पर्व के पहले ५३ अध्याय, जिनमें पौलोम और पौष्य पर्व हैं, भार्गव कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। भरतवंश की कथा उसके बाद चली है। शान्ति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीति परक अंश हैं, वे भी भृगुओं की प्रेरणा के फल हैं। यह सत्य है कि मूल भारतसंहिता के उस शुद्ध रूप का जिसमें उसका आविर्भाव हिमवत् पृष्ठ के बदरी वन में हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई नहीं कर सकता, पर फिर भी सहस्रों वर्षों की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से पूना के भारत-चिन्तकों का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ डा० सुक्ठणकर इस कार्य में हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हैं।

साहित्यिक महत्त्व

महाभारत संस्कृत-साहित्य का धुरंधर ग्रन्थ है। उसका साहित्यिक तेज सर्वातिशायी है। 'एड्डा' और 'सागाओं' के लिए प्रख्यात् लेखक कारलाइल ने लिखा है कि वे इतनी महान् कृतियाँ हैं कि उन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दाँते और गेटे बन सकते हैं। यही बात हम महाभारत के लिए कह सकते हैं। भास, कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष की साहित्यिक कृतियाँ महाभारत के ही अल्प-विषयात्मक रूप हैं। यों भी महाभारत साहित्यिक शैलियों की खान है—उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दर्शन और अध्यात्म निरूपण की संवादात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली (युधिष्ठिर-अजगर और युधिष्ठिर-यक्ष प्रश्न, वनपर्व अ० १८०—८१, अ० ३१३), केवल प्रश्नात्मक शैली (सभापर्व अ० ५, नारद प्रश्न मुख से राजधर्मानुशासन), नीति ग्रन्थात्मक शैली (विदुरनीति, उद्योग० अ० ३३-४०), स्तोत्र शैली*, सहस्रनाम शैली—इस प्रकार वर्तमान महाभारत में साहित्यिक पद्धति के अनेक बीज पाये जाते हैं।

व्यास और राष्ट्र

पर हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए महाभारत का विशेष महत्त्व यह है कि वह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन-सम्बन्धी संस्था, नीति और धर्म के आदर्शों की खान है। वेद-व्यास जिस भारत-राष्ट्र की उपासना करते थे, भविष्य का प्रत्येक हिन्दू उसका स्वप्न देखेगा। उनका निम्नलिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च॥
पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥ ×

आओ, हे भारत! अब मैं तुम्हें भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूँ—वह भारत, जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था; जो भारत ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द और औशीनर शिबि को प्रिय था; ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे; और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रिय सम्राटों को प्यारा था। हे नरेन्द्र! उस दिव्य देश की कीर्ति-कथा मैं तुम्हें सुनाऊँगा।

---

* भंडारकर इंस्टीट्यूट की मुखपत्रिका, भाग १८, पृ० १-७६

* जैसे महापुरुषस्तव (शान्ति अ० ३३८), कृष्णनाम स्तुति (शा० अ० ४३), भगवन्माहात्म्य (अनु० अ० १५८), शतरुद्रिय (अनु० अ० १६१), भगवन्नाम निरुक्ति (शा० अ० ३४१) और कृष्णस्तवराज (शा० अ० ४७)। स्तोत्र और सहस्रनामों का संग्रह इन्हीं दो पर्वों में अधिक है। यह संदेहजनक है।

× भीष्मपर्व अ० ९, श्लो० ५-९। संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।

व्यास ने राष्ट्रीय राजनीति का जो आदर्श रक्खा है वह मनु और वाल्मीकि से मिलता है। पिछले दो अंकों में मनु और वाल्मीकि की राष्ट्र-कल्पना हम बता चुके हैं। वाल्मीकि के 'अराजक जनपद' गीत से मिलता-जुलता व्यास का 'यदि राजा न पालयेत्' (शान्ति० ६८।१-३०) गीत है। लोक में शान्ति की व्यवस्था राजा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है। धर्म की जड़ राजा की सुव्यवस्था के बल पर टिकी रहती है। यदि राजा न हो, तो दुष्ट साधुओं को खा डालें, धर्म डूब जाय, वेद कहीं के न रहें, सारी प्रजा अन्धकार में विलीन हो जाय।† राष्ट्र के धर्मबन्ध शासन की सुव्यवस्था के अधीन हैं। व्यास के मत में बिना राजा का राष्ट्र मरा हुआ है—

मृतं राष्ट्रमराजकम्। (वन० ३१३। ८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है। (शा० १६—१७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है वही राजा है (शा० ५६। ११), जो क्षत्र से बचाता है वही क्षत्रिय है (शा० २६। १३८)। इन्हीं आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग में कालिदास ने दोहराया था।× भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना, राजा ही काल को बनाता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥
(शा० ६६। ६)

जब राजा भली प्रकार दंडनीति का पालन (administration of law) करता है ,तभी सतयुग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का ककुद् है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रहकर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है, उसका एक चतुर्थ अंश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूँकनेवाले आंगारिक की तरह नहीं। एक फूलों की चाह में वृक्षों को पोसता है, दूसरा अंगारों के लिए पेड़ों को फूँक डालता है। राजा का शरीर प्रजाएँ हैं। अपने आपे को बचाने के लिए भी राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने आपको बढ़ाती हैं। जो राष्ट्र की कामना करते हैं उनको सबसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए। व्यास ने षोड़श राजीय पर्व में प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ बरसते थे, और सदा सुभिक्ष रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष, टंकार घोष और दान के संकल्प का घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पड़ते थे। संक्षेप में वेद-व्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है, राजधर्म बिगड़ गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या, सब कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए (शान्ति पर्व ६३। २८-२६)—

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥‡

व्यास और धर्म

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रक्खा है, वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वे धर्म को स्वर्ग-प्राप्ति करानेवाले थोथे कर्मों का जंजाल नहीं मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म की एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
(उद्योग० १३७। ६)

---

† राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक् पथः।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्॥ (शा० अ० ६८)

× क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। (रघुवंश २।५३)
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति रंजनात्। (रघु० ४।१२)
अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाए।

‡ 'हिन्दू पालिटी' में डा० जायसवाल ने इन श्लोकों का निम्नलिखित अनुवाद दिया है—

"When Politics becomes lifeless the triple Veda sinks, all the *dharmas* [i. e., the bases of civilization] (howsoever) developed, completely decay. When traditional State Ethics are departed from, all the bases of the divisions of individual life are shattered.

"In Politics are realised all the forms of renunciation, in Politics are united all the sacraments, in Politics are combined all knowledge, in Politics are centred all the Worlds."

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक—सबको धारण करनेवाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम हैं वे धर्म हैं—

'धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्स्याद्धारण सयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करनेवाला अमृत बन जाता है। राजाओं की जय और पराजय आने-जानेवाली चीज़ हैं, जीवन में सुख और दुःख भी सदा एक-से नहीं रहते, पर सम्पत्ति और विपत्ति में भी जो वस्तु एक-सी बनी रहती है वह धर्म है। व्यास ने महाभारत संहिता लिखने के बाद उसके अंत में अपने दृष्टिकोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोकों में दिया है, जिसे भारतसावित्री कहते हैं। उसका अन्तिम श्लोक यह है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं। क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं। 'मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुननेवाला ही नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते!' ये भारत-सावित्री में व्यास के साक्षात् वचन हैं।

यदि धर्म जीवन को धारण करनेवाला है और धर्म अच्छी चीज़ है तो जीवन भी मूल्यवान् होना चाहिए। व्यास के धर्म में जीवन रोने-धोने या माया समझकर खोने की चीज़ नहीं। उनकी दृष्टि में यह लोक कर्मभूमि है, परलोक फलभूमि होगा। देवदूत ने मुद्गल से कहा—

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमि रसौ मता।
(वन० २६१। ३५)

वन में पाण्डवों के पास जाकर स्वयं व्यास ने यह मत रक्खा था। वे इस लोक में कर्मवाद को मानते हैं। उसके साथ दैववाद को मानते हैं और दोनों के ऊपर अध्यात्म ब्रह्म या आत्मतत्त्व में विश्वास रखते हैं। उन्होंने जो दार्शनिक मत रक्खा उसमें मनुष्य सबके केन्द्र में है। व्यास का यह श्लोक स्वर्ण के अक्षरों में टाँकने योग्य है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।
(शान्ति० १८० । १२)

अर्थात्, यह रहस्य-ज्ञान तुमको बताता हूँ—मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। व्यास का यह मानव-केन्द्रिक (man as the centre of universe) मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अध्ययन में सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है।

व्यास की परिभाषा के अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है—

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः।
(अश्व० ४३। २०)

कर्म करने से जो प्रकाश जीवन में आता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है। आत्माभिमान के साथ मनुष्य-शरीर रखने से ही सारे लाभ प्राप्त होते हैं।

पाणिवाद

व्यास ने मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए इन्द्र के मुख से **पाणिवाद** का व्याख्यान कराया है। जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं कर सकते? जिनके हाथ हैं वे ही सिद्धार्थ हैं। जिनके हाथ हैं उनकी मैं सबसे अधिक सराहना करता हूँ। जैसे तुम धन चाहा करते हो, वैसे मैं तो पाँच अँगुलियोंवाले हाथ चाहता हूँ। पाणिलाभ से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है।* जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही लाभ मिलता है, यही शास्त्रों का निचोड़ है—

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्।
(शान्ति० २७९।२०)

किन्तु धनागम धर्म से होना चाहिए। व्यास जी के मन में धर्म का जो ऊँचा स्थान है उसके अनुसार न केवल अर्थ वरन् काम और मोक्ष भी धर्म पर आश्रित हैं और यह राज्य भी धर्ममूलक है—

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यञ्चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
(वन० ४।४)

व्यास की दृष्टि में लोक-संग्रह और लोक-धर्म बहुत मूल्यवान् पदार्थ हैं। आजगर मुनि को 'लोकधर्मविधान-वित्' अर्थात् लोक-धर्म के सिद्धान्त और संगठन का वेत्ता

* अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहाऽस्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन् विद्यते॥
(शान्तिपर्व १८० । ११-१२)

(शा० १७६।६) कहा गया है। जो व्यक्ति लोकपक्ष का इतना समर्थक हो, उसे गृहस्थ धर्म का प्रशंसक होना ही चाहिए। व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में तेजस्वी मार्ग है, वह पवित्र धर्म है जिसकी उपासना करनी चाहिए।*

व्यास और अध्यात्म

लोक, गार्हस्थ्य और मनुष्य के लिए जिस महापुरुष के मन में श्रद्धा है, जिसका दृष्टिकोण इन विषयों में इतना मँजा हुआ है, उसका अध्यात्मशास्त्र भी तदनुकूल ही मानव को साथ लेकर चलता है। मनुष्य पंचेन्द्रियों से युक्त प्राणी है। इन्द्रियाँ ही मानव को देव या असुर बना देती हैं। व्यास के अध्यात्मशास्त्र का सार इन्द्रियनिग्रह है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्।
(उद्योग ६६।१७)

इन्द्रियों को रोकने के सिवाय आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नहीं है। विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को वश में रखने से अध्यात्माग्नि प्रकाशित हो उठती है। जिस प्रकार ईंधन के जलने से अग्नि चमक उठती है उसी प्रकार इन्द्रियनिरोध से महानात्मा प्रकाशित होता है। डसने के भाव से सर्प जाने जाते हैं, दम्भभाव से असुर, दानभाव से देव और दमभाव से महर्षि पहचाने जाते हैं (आश्व० अ० २१)। वेदज्ञान का रहस्य सत्य भाषण में है, सत्य का उपनिषद् इन्द्रियदमन है, और दम का फल मोक्ष है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥
(शा० २९९।१३)

आत्मनिरोध के द्वारा जो व्यक्ति जीवन में अपना मार्ग विषयों से भरे हुए जंगल में स्वयं निश्चित करता है, वह अपना ज्ञान औरों पर नहीं बघारता, बल्कि अपने आचार से औरों को उपदेश देता है। बोध्य ऋषि की कही हुई पुरातन गाथाओं को उद्धृत करके व्यास ने यही कहा है— **उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन।** (शा० १७८।६) मैं अपनी 'करनी' से सिखाता हूँ, 'कथनी' से नहीं। वेदव्यास जीवन में ऋजुभाव के माननेवाले हैं। ऋजुभाव की उपासना ब्रह्मपद की प्राप्ति है, कुटिलता मृत्यु का पद है। इतना ही ज्ञान का सार है, और सब झूठी बकवाद है।†

कालधर्म

वेदव्यास के आध्यात्मिक दर्शन में कालधर्म का बड़ा स्थान है। उनकी आँखों ने समंत पंचक में हुए कुरु-पाण्डवों के दारुण नाश को देखा। बड़े कुशाग्र बुद्धि और कल्याणाभिनिवेशी व्यक्ति इच्छा रहते हुए भी उस क्षय को नहीं रोक सके। यह कालचक्र की ही महिमा है। कर्म के साथ मिलकर काल ही संसार में बहुत तरह के उलट-फेर करता है (शा० २१३।१३)। काल के पर्यायधर्म के सामने सब अनित्य ठहरता है, कभी एक की बारी, कभी दूसरे की। महाभारत के अन्त में जो व्यक्ति स्त्री पर्व को देखे, वह इसके सिवाय और क्या कह सकता है—

न च दैव कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति में मतिः॥

कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे दैव के रास्ते को नहीं रोक सकता! यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसी का नामान्तर सनातन ब्रह्म है। वेदव्यास मानव जीवन की घटनाओं की ऊहापोह करते हुए उनके अन्तिम कारण की खोज में यहीं विश्राम लेते हैं। यह सच है कि मनुष्य विधाता के द्वारा निश्चित संसार के विधान को बदल नहीं सकता, पर वह यह अवश्य कर सकता है कि उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन में ऋजुभाव को अपना ले। वह यह भी कर सकता है कि इन्द्रियों के निरोध और आत्म-चिन्तन से आत्म-ज्योति को इसी शरीर में प्राप्त कर ले। यह शरीर मूँज घास है, आत्मा उसके भीतर की सींक है। जिस प्रकार मूँज से इषीका निकाली जाती है, वैसे ही योगवेत्ता शरीर में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं (आश्व० १६।२२-२३)।

व्यास की आज्ञा है कि जय नामक इतिहास सबको सुनना चाहिए। यह धुरंधर ग्रन्थ भारतीय चरित और ज्ञान का पूर्णतम वर्ण-पट (spectrum) है। इसके निर्माता की प्रज्ञा सूर्यरश्मियों की तरह विराट् है। सारा भारत राष्ट्र महामुनि वेदव्यास के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। हम भी हिमालय के शिलाप्रस्थ पर विराजमान बदरिकाश्रम के पुराण मुनि को प्रणाम करते हैं, जिनके पृथु नेत्रों में हमारे ज्ञान का सारा आलोक समा गया था, जिनका शालस्कन्ध के समान उन्नत मेरुदण्ड राष्ट्रीय मेरुदण्ड का प्रतीक था, जिनके चन्द्रनोचित कृष्णशरीर में हमारे शुभ आदर्श मानो राशिभूत होकर मूर्त्तिमान् हो उठे थे।

* सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते॥ (शा० ६६।३५)

† सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥(आश्व० ११।४)

महत्वपूर्ण सम्मतियाँ

"मेरी राय में यह एक बहुत ही आकर्षक और बड़ी योग्यता तथा सजधज के साथ तैयार किया हुआ प्रकाशन है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ।"

(पं०) जवाहरलाल नेहरू

"मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि यह ग्रंथ विषयों की टेकनिकल या बारीक बातों को छोड़कर जनता को वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने में बहुत अधिक सहायक होगा। मैं इस कार्य की हर तरह से सफलता चाहता हूँ।"

(सर) स० राधाकृष्णन,
[वाइस-चांसलर, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय]

"चित्रसंचय, छपाई और विषयचयन, सभी दृष्टियों से यह उपादेय वस्तु है और भाषा भी सर्वथा विषयानुकूल है। इसके प्रकाशन और संपादन से संबंध रखनेवाले बधाई के पात्र हैं।"

(बाबू) संपूर्णानन्द,
[भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, संयुक्त प्रान्त]

"यदि इसी योग्यता से इसका सम्पादन होता रहा तो इसमें सन्देह नहीं कि अन्य भाषाओं के ज्ञान कोषों से किसी अंश में यह कम नहीं रहेगा।"

(पं०) अमरनाथ झा
[वाइस-चांसलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय